मध्ययुगीन काव्य

स्वरूप, शैली एवं परम्परा

(Medieval Poetry: Form, Style and Tradition)

राम पाल सिंह

मध्ययुगीन काव्य : स्वरूप, शैली एवं परंपरा

मध्ययुगीन काव्य : स्वरूप, शैली एवं परंपरा

(Medieval Poetry: Form, Style and Tradition)

राम पाल सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5463-5

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी रचनात्मक गरिमाएँ, व्यापकता और विविधता में महत्त्वपूर्ण रहा है। आचार्य शुक्ल ने इस युग को दो भागों में विभक्त। कर पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल की संज्ञा दी, जिन्हें क्रमशः भक्तिकाल और रीतिकाल का नाम दिया गया। ये दोनों भक्तियुग और रीतियुग हमारी साहित्यिक परम्परा के ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहे हैं, जिनके प्रति हमारा आकर्षण आज भी विद्यमान है। रीतियुग पर तो उतना नहीं, लेकिन भक्तियुग पर विवाद ज्यादा रहा है।

भक्तिकाल पर दीक्षाओं और क्षेपकों पर आधृत इतिहास निरपेक्ष परम्परावादी भाववादी विश्लेषण बहुत मिलता है। इस युग की ठोस, वस्तुपरक और प्रामाणिक विश्लेषण की जरूरत बराबर महसूस होती रही है। जिन सामाजिक-आर्थिक कारणों से इस युग की कविता का अभ्युदय हुआ उनकी व्याख्या करना आवश्यक है। इस दृष्टि से वस्तुवादी परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियबोध, भावबोध और विचारधारात्मक दृष्टि के द्वन्दात्मक संबंधों के साथ साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो आधारभूमि मुक्तिबोध ने प्रस्तुत की थी, वह महत्त्वपूर्ण है।

किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि किन मनोवैज्ञानिक-सामाजिक शक्तियों से वह उत्पन्न है अर्थात् वह किन-किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है, 'दूसरा यह कि उसका अंतःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं

और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किए हैं' तीसरे उसका प्रभाव क्या है, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया और क्यों? साधारणजनों के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?" हमें मध्ययुग के सन्दर्भ में देखना होगा कि यह युग किन परिस्थितियों के बीच जन्मा? उसकी अन्त:प्रकृति और अन्तर्विरोधों का क्या स्वरूप रहा है? निश्चित ही भक्तियुग के संदर्भ में मुक्तिबोध ने साहित्य की सौंन्दर्यवादी समीक्षा के साथ ही समाजशास्त्रीय व्याख्या को महत्त्व दिया।

स्पष्ट ही भक्तियुग में बाह्य आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में सामन्ती ताकतें असफल रहीं और धीरे-धीरे आक्रान्ताओं के अधीन होती गयीं। देशी और आक्रामक ताकतों का मनुष्य इतना बौना और आत्मपरस्त था कि अपने-अपने ईश्वर और अपनी-अपनी सत्ता की बात करने लगा। दरअसल मनुष्य इतना टूट चुका था कि इस दौर में उसे जोड़ने का संघर्ष ही मुख्य बना। एक नई गतिशील चेतना और आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने का संघर्ष था।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**मध्ययुगीन काव्य**	**1**
	हिन्दी साहित्य का इतिहास	5
	हिन्दी साहित्य की भूमिका	6
2.	**कबीर का काव्य**	**23**
	कबीर साहित्य	23
	कबीर की भक्ति के सामाजिक प्रभाव	40
	बाह्य आडम्बरों का विरोध	44
	रहस्यवाद का अर्थ	45
3.	**तुलसीदास के काव्य**	**53**
	बालकाण्ड–11	54
	उत्तरकाण्ड–95	55
	अयोध्याकाण्ड–11	56
	सुन्दरकाण्ड–5	56
	बालकाण्ड–8	56
	अयोध्याकाण्ड–22	57
	अयोध्याकाण्ड–11	57

बालकाण्ड–11 58
बालकाण्ड–17 59
बालकाण्ड–8 59
अयोध्याकाण्ड–22–23 59
बालकाण्ड 17 60
सुन्दरकाण्ड–5 60
4. सूरदास का काव्य 61
सप्तशतियों में चित्रित प्रेम के विविध प्रकार 62
काव्य पक्ष 67
भावपक्ष 67
वस्तु–वर्णन 68
प्रकृति–चित्रण 68
कलापक्ष 69
काव्य–शैली 69
दृष्टिकूटि–शैली 70
भाषा–शैली 70
5. जायसी की प्रेम साधना 79
जीवन 79
कृतियाँ 82
जायसी के साधना के सांम्प्रदायिक प्रतीक 85
जायसी की देन 87
जायसी का रहस्यवाद 89
जायसी की प्रमुख रचनाओं का परिचय 91
पद्मावत 96
आखिरी कलाम 99
मसला 103
मलिक मुहम्मद जायसी 103
6. रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति 106
रीति का स्वरूप 112
रीतिकाल की परिस्थितियाँ 119

7. बिहारी **128**
जीवन परिचय 128
कृतियाँ 129
काव्यगत विशेषताएँ 129
भक्ति-भावना 130
प्रकृति-चित्रण 130
बहुज्ञता 130
भाषा 130
साहित्य में स्थान 131

1

मध्ययुगीन काव्य

हिन्दी साहित्य का मध्ययुग अपनी रचनात्मक गरिमाएँ, व्यापकता और विविधता में महत्त्वपूर्ण रहा है। आचार्य शुक्ल ने इस युग को दो भागों में विभक्त। कर पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल की संज्ञा दी, जिन्हें क्रमशः भक्तिकाल और रीतिकाल का नाम दिया गया। ये दोनों भक्तियुग और रीतियुग हमारी साहित्यिक परम्परा के ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु रहे हैं, जिनके प्रति हमारा आकर्षण आज भी विद्यमान है। रीतियुग पर तो उतना नहीं लेकिन भक्तियुग पर विवाद ज्यादा रहा है। भक्तिकाल पर दीक्षाओं और क्षेपकों पर आधृत इतिहास निरपेक्ष परम्परावादी भाववादी विश्लेषण बहुत मिलता है। इस युग की ठोस, वस्तुपरक और प्रामाणिक विश्लेषण की जरूरत बराबर महसूस होती रही है। जिन सामाजिक-आर्थिक कारणों से इस युग की कविता का अभ्युदय हुआ उनकी व्याख्या करना आवश्यक है। इस दृष्टि से वस्तुवादी परिप्रेक्ष्य में इन्द्रियबोध, भावबोध और विचारधारात्मक दृष्टि के द्वन्दात्मक सम्बन्धों के साथ साहित्य के मूल्यांकन के लिए जो आधारभूमि मुक्तिबोध ने प्रस्तुत की थी, वह महत्त्वपूर्ण है। "किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि किन मनोवैज्ञानिक-सामाजिक शक्तियों से वह उत्पन्न है अर्थात् वह किन-किन शक्तियों के कार्यों का परिणाम है, किन सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है, 'दूसरा यह कि उसका अंतःस्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आन्तरिक तत्त्व रूपायित किए हैं' तीसरे उसका प्रभाव क्या है, किन

सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरुपयोग किया और क्यों? साधारणजनों के किन मानसिक तत्त्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?" हमें मध्ययुग के सन्दर्भ में देखना होगा कि यह युग किन परिस्थितियों के बीच जन्मा? उसकी अन्त:प्रकृति और अन्तर्विरोधों का क्या स्वरूप रहा है? निश्चित ही भक्तियुग के संदर्भ में मुक्तिबोध ने साहित्य की सौन्दर्यवादी समीक्षा के साथ ही समाजशास्त्रीय व्याख्या को महत्त्व दिया। स्पष्ट ही भक्तियुग में बाह्य आक्रमणकारियों का मुकाबला करने में सामन्ती ताकतें असफल रहीं और धीरे-धीरे आक्रान्ताओं के अधीन होती गयीं। देशी और आक्रामक ताकतों का मनुष्य इतना बौना और आत्मपरस्त था कि अपने-अपने ईश्वर और अपनी-अपनी सत्ता की बात करने लगा। दरअसल मनुष्य इतना टूट चुका था कि इस दौर में उसे जोड़ने का संघर्ष ही मुख्य बना। एक नई गतिशील चेतना और आलोचनात्मक विवेक को विकसित करने का संघर्ष था।

मध्ययुग का लगभग पाँच सौ वर्षों का इतिहास 1400 विक्रम संवत् से 1700 विक्रम संवत् तक पूर्व मध्यकाल और 1700 से 1900 विक्रम संवत् तक उत्तर मध्यकाल जिसमें हिन्दू-मुस्लिम राजाओं के साथ-साथ अंग्रेजी शासन की नींव की सूचना मिलती है। तेरहवीं शताब्दी के मंगोलों को पूरी तरह हराकर अलाउद्दीन खिलजी ने अपने विराट साम्राज्य का विस्तार किया, फिर भी यह कोई केन्द्रीकृत राज्य नहीं था। इधर राजपूत राजा बराबर मुसलमान आक्रमणकारियों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। अल्लाउद्दीन के साथ अन्य मुगल शासकों हूमायूँ, शेरशाह, अकबर और जहाँगीर का लक्ष्य हिन्दू राजाओं को साधनहीन बनाने का था। मोरलैण्ड ने भी इस स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा। "इस नीति का परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के लगातार प्रयास से राजा, परगनों और गाँव के मुखिया साधनहीन बन गये। घोड़े और हथियार खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं रहे। एक समकालीन इतिहासकार के अनुसार हिन्दुओं के घर सोना-चाँदी न रह गया और गरीबी के कारण रानियों को मुसलमानों के यहाँ चाकरी करनी पड़ी।" दरअसल मुस्लिम सामन्तों का निरन्तर यह प्रयास रहा कि लगान और महसूलों का स्तर इतना ऊँचा कर दिया जाये कि अदा करने वाले सामन्तों को बर्बाद करना आसान हो। यह प्रक्रिया इस हद तक त्वरित हुई कि अनेक राजपूत सामन्तों का खात्मा हो गया और अन्य कईयों ने मुगलों की अधीनता स्वीकार कर ली। किसानों पर भी ग्रामीण कराधानों का बोझ बढ़ाया गया। इसी क्रम में जजिया कर लगाया गया, जो किसानों पर एक भारी बोझ था।

सिकन्दर लोदी और फिरोज तुगलक आदि मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं पर जजिया कर लगाकर और अन्य अनेक दण्ड नीतियों का विधान कर अपने कट्टरतावादी रुख को प्रत्यक्ष किया। कबीर के समक्ष इन स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों के प्रति राजनैतिक संघर्ष चुनौती बनकर उपस्थित हुआ। यही कारण है आर0सी0 मजूमदार आदि का यह मानना कि वर्ण-व्यवस्था और जातियों में बंटे इस समाज में इस्लाम समानता की ताजी हवा लेकर आया, उचित नहीं। प्रो0 इरफान हबीब और अब्दुल कादिर बदायूँनी ने इस धारणा का खण्डन किया। हिन्दू हो या मुखिम दोनों ही सामन्त सामान्यजन के हितों के विरोधी थे। जन-विरोधी निर्णयों को लेने में उन्होंने कोई गुरेज नहीं किया। बुरी आर्थिक स्थिति के बावजूद उत्पादक शक्तियों का विकास धीमा पर निरन्तर होता रहा। कारीगरों और दस्तकारों की संख्या बढ़ी, कुछ कारखाने भी स्थापित हुए। अकबर के शासनकाल तक आते-आते भारतीय सामाजिक संगठन और अर्थव्यवस्था में बहुत बदलाव आया। सामन्ती मनमानेपन और कट्टरपन के स्थान पर उन्होंने 'दीनइलाही' (सभी धर्मों के समवाय) का पंथ चलाया। जजिया कर से भी प्रजा को मुक्ति दिलवायी। हिन्दू और मुस्लिम दोनों ही धर्मों के बाह्याचारों, पौराणिक विश्वासों को अस्वीकार किया। इन समन्वयकारी नीतियों का भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियों पर गहरा असर पड़ा। केन्द्रीय शासन की स्थिर सामाजिक राजनैतिक स्थितियों ने रीतियुगीन कविता को पनपने का अवसर दिया। वाणिज्यिक कारोबार की स्थितियाँ भी कुछ बेहतर हुई पर सारी वास्तविक सत्ता सामन्तों के हाथ में केन्द्रित थी। फलतः सम्पन्न किसानों, जागीरदारों, वणिकों के साथ-साथ भूमिहीन किसानों, छोटे बनियों, दस्तकारों आदि से जुड़ी जातियों सामाजिक शक्ति के रूप में उभरीं। दरअसल सामन्तों की सारी जरूरतें इन लोगों द्वारा दिए जाने वाले करों, लगान आदि से पूरी होती थीं। प्राकृतिक आपदाएँ करों का बोझ निम्न श्रेणी के लोगों (किसानों) को भूखा मरने के लिए विवश करती थीं। किसानों की फसल का बड़ा हिस्सा कर अदायगी में और शेष ऋण अदायगी में चला जाता था। प्रो0 इरफान हबीब ने इस स्थिति की ओर संकेत करते हुए लिखा कि-"दिल्ली की सल्तनत की स्थापना के साथ ही कुछ सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुए। वास्तव में अलाउद्दीन खिलजी (1296-1316) ने ग्रामीण निम्नवर्ग बलाहार से उसकी छोटी-सी जोत योग्य भूमि पर शुल्क में दी गयीं रियायतें तक वापस ले ली थीं। इससे साफ जाहिर है कि निचली जातियों को न केवल अपनी औकात से रहने के लिए विवश किया जाता था बल्कि वे अपने जीवन निर्वाह

के लिए सदा से मिलती आयी रियायतों की माँग भी अब नहीं कर सकती थीं।" 'इस प्रकार निम्नवर्गीय ताकतों के उठान में बदलती सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का बहुत बड़ा हाथ था। डॉ0 इरफान हबीब और डॉ0 रामविलास शर्मा ने इस दौर के पण्य-द्रव्य सम्बन्धों को बारीकी से विश्लेषित करते हुए मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन के साथ उसका ऐतिहासिक सम्बन्ध दिखाया।' 'बारहवीं सदी के बाद भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। व्यापार की बड़ी-बड़ी मण्डियाँ कायम हुई। इस आर्थिक विकास के फलस्वरूप शहर के कारीगरों और व्यापार की प्रगति से पुराने सामाजिक सम्बन्ध शिथिल होते हैं। सामाजिक सम्बन्धों की शिथिलता से भक्ति साहित्य का सीधा सम्बन्ध है। भारत में जब-जब उद्योग और विनिमय के साथ-साथ नागर सभ्यता का प्रसार हुआ तब-तब वंशगत वर्ण व्यवस्था टूटी है, उसकी जगह कर्मगत वर्ण व्यवस्था का चलन हुआ है।' (हिन्दी जाति का साहित्य, डॉ0 रामविलास शर्मा, पृ0 43-44) प्रो0 इरफान हबीब के अनुसार इस काल में भवन निर्माण की कला में बड़े पैमाने पर नई तकनीक आयी। कागज उत्पादन बढ़ा। चरखें, करघे में लगे पैडल रेहट के लिए पिन ड्रम गियर, कलईकारी, शराब बनाने की बेहतर तकनीक आदि का तेजी से प्रसार हुआ, शहरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई, सोने और चांदी के सिक्कों की ढलाई में बढ़ोत्तरी हुई। व्यापार का तेजी से विकास हुआ और शहरों में दस्तकारी के सामानों की मांग बढ़ गयी। इस आर्थिक विकास का लाभ समाज की दस्तकारी और शिल्प व्यापार से जुड़ी निचली जातियों को मिला। स्पष्ट है कि सामन्तवाद के भीतर ही व्यापारिक पूँजीवाद का प्रसार हुआ। यह वित्त का जो चलन हुआ उसका लाभ सिर्फ सामन्तों तक सीमित न रहकर कारीगरों और किसानों को भी हुआ। निम्न जीवन स्तर को जीने वाली दलित शूद्र जातियों में नई चेतना का प्रसार हुआ। भक्ति आन्दोलन के जन्मने के मूल में इसी चेतना ने कार्य किया इसी के कारण वण आधृत सामाजिक व्यवस्था में टूटन आयी। इस प्रकार बदली हुई आर्थिक-सामाजिक स्थितियों के कारण नये वर्ग सम्बन्ध विकसित हुए सांस्कृतिक-सामाजिक क्षेत्र में नयी भावभूमियाँ तैयार हुई। किसानों और दस्तकारों के बीच पैदा हुई नई जागृति ने विद्रोहात्मक रुख अख्तियार किया, जिसका पुष्ट रूप संत कवियों में देखने को मिलता है। विकसित होती वाणिज्यिक ताकतों के साथ निम्नवर्गीय जातियों और उत्पीड़ित संतों का सम्बन्ध रहा। सामन्ती कूरता उनकी निर्ममता उन्हें व्यापारी कृषक और दस्तकार वर्ग के साथ जोड़ रही थी। नानक देव, दादू (यधुनिया), पीपा (नाई) कबीर (जुलाहा)

धन्ना (जाट) रैदास (चमार) ये संत कवि निर्गुणमार्गी कहलाये। विपरीत जीवन स्थितियों से असन्तुष्ट ये संत कवि सामन्ती कथनों को तोड्ने की छटपटाहट को जीते हैं।

अत: मध्ययुगीन भक्ति काव्य अपने समय के यथार्थ से टकराता हुआ उसका अतिक्रमण करता है। नयी सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था का विकल्प उपस्थित करता है। भक्त कवियों की कविताएँ जनजीवन के एक पक्ष की व्याख्या नहीं करती वरन् उसमें विविध पक्षों का समाहार है। यह आन्दोलन ब्रह्म के साथ मनुष्य की प्रतिष्ठा करता हुआ व्यापक धार्मिक-सामाजिक घटना का समेकित रूप लेकर आता है। दरअसल भक्ति आन्दोलन मध्ययुगीन सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया रही है जिसके मूल में धर्म और मानवता की नई चेतना विकसित होती है।

ग्रियर्सन ने सबसे पहले इस पर इसाई धर्म की दृष्टि से विचार किया, जिस पर आज बहस का मतलब नहीं है। इस्लाम के आगमन को लेकर आचार्य शुक्ल ने अपनी स्थापना दी। देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गर्व, गौरव और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया।

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हताश जनता को राम और कृष्ण जैसे लोकनायक मिले, जिन्होंने उनके हृदय में उल्लास का संचार किया, अत: आचार्य शुक्ल ने भक्ति साहित्य के लिए अनुकूल मनोभूमि के निर्माण की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक आधार राजनीतिक पराजयजन्य नैराश्य को माना। जबकि नैराश्य की बात नहीं है, यह शुक्ल जी का अपना अन्तर्विरोध है। यहाँ भी उसके मूल में निहित सामाजिक कारणों को ढूंढना होगा। इन कारणों को स्वयं आचार्य शुक्ल ने सूर, तुलसी और जायसी के विश्लेषण के सन्दर्भ में व्याख्यायित किया है। इसलिए हिन्दुओं की नैराश्य भावना भक्ति के उद्गम का स्रोत है, यह कहना गैर-साम्प्रदायिक विराट भक्ति आन्दोलन को साम्प्रदायिकता का जामा पहनाना है। यह प्रयत्न आज भी साम्प्रदायिकता की चेतना से ग्रस्त इतिहासकार करते दिखते हैं, जिन्हें आज उस दौर की हिन्दू-मुस्लिम चेतना के टकराव के धरातल की सामाजिक पृष्ठभूमि में मुस्लिम विरोधी घृणा भाव की जमीन तैयार करनी है। शुक्ल जी के जिस कथन को लेकर उन पर साम्प्रदायिक इतिहास दृष्टि का आरोप लगाया गया है वह अपनी जगह है, परन्तु आचार्य द्विवेदी की मान्यता जो शुक्ल जी को समेटते हुए

प्रत्यक्ष हुई वह भी पूर्णत: वैज्ञानिक हो, ऐसा नहीं है। फिर भी दोनों आचार्यों को साम्प्रदायिक कहकर नकारा तो नहीं जा सकता। निश्चित ही इतिहास को देखने की यह एक संकीर्ण और अनैतिहासिक दृष्टि है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने आचार्य शुक्ल का बिना नाम लिए खारिज करते हुए लिखा कि-"दुर्भाग्यवश हिन्दी साहित्य के अध्ययन और लोक चक्षुगोचर करने का भार जिन विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है, वे भी हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध हिन्दू जाति के साथ ही अधिक बतलाते हैं और इस प्रकार अनजान आदमी को दो ढंग से सोचने का मौका देते हैं एक यह कि हिन्दी साहित्य हतदर्प पराजित जाति की सम्पति है। वह एक पतनशील जाति की चिंताओं का मूर्त रूप है, प्रतीक है। मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं पा रहा हूँ लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि इस्लाम न आया होता तो भी साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

हिन्दी साहित्य की भूमिका

इस्लाम न आया होता तो क्या होता? इसका बहुत सटीक हल ढूँढ पाना बहुत मुश्किल है। ऐसी यांत्रिकता विश्लेषण की ऐसी सतही दृष्टि वस्तुगत मूल्यांकन में बाधक सिद्ध होती है। इस पर विचार करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उनके आने के बाद मानवीय सामाजिक सम्बन्धों पर पड़ने वाला प्रभाव महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल के आविर्भाव से जुड़ी आचार्य द्वय की अवधारणाएँ अपने अन्तर्विरोधों के बावजूद तद्युगीन विषम सामाजिक-सांस्कृतिक राजनीतिक स्थितियों का खुलासा तो करती ही हैं। जबकि गंभीर और संश्लिष्ट विश्लेषण की आवश्यकता थी। यह सही है कि भारतीय सामन्ती ताकतें बाह्य आक्रांताओं का विरोध करने में समर्थ नहीं थीं। उनकी आपसी कलह और फूट ने मुस्लिम सामन्तों को पैर टिकाने की भूमि प्रदान की। जिससे जनसामान्य के कष्टों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। सामन्त हिन्दू हो या मुसलमान दोनों ने ही निम्नवर्गीय जनता के अन्तर्विरोध समान रहे। देशी सामन्तों की आत्मग्रस्त मानव विरोधी प्रवृत्ति के खिलाफ उतने ही संघर्ष की आवश्यकता थी जितनी कि मुस्लिम सामन्तों की। डॉ0 रामविलास शर्मा ने इस आन्दोलन के मूल में निहित परिस्थितियों का समुचित आकलन करते हुए लिखा कि-"मुस्लिम शासन के प्रतिक्रिया स्वरूप भक्ति आन्दोलन का प्रसार हुआ, यह धारणा सही नहीं है क्योंकि भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात यहाँ तुर्कों के आगमन के बहुत पहले हो गया था। इसके सिवाय भक्ति आन्दोलन का प्रसार उत्तर से दक्षिण के उन प्रदेशों

में हुआ जहाँ पर सगुण-निर्गुण भक्तों की भक्ति के तत्त्वों को समान रूप से विश्लेषित करने की कोशिश करते हैं तो कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं। सबसे बड़ा सवाल खड़ा होता है कि पूर्ववर्ती लोकोन्मुखी संत सूफी कवियों के लेखन कर्म से भिन्न सगुण भक्त कवियों के काव्य में अवधारणात्मक परिवर्तन (एटिट्युडियल चेंज) क्या हुए? क्या सगुणधारा का लेखन भी दलित निम्न जातियों की पीड़ा को शिद्दत से उभारता है क्या उनका लेखन जनाभिमुख है" कबीर हो अथवा तुलसीदास हमें प्रत्येक कवि के भावबोध को समाज के बीच रखकर ही देखना होगा। उनके अन्तर्विरोधों की खरी पहचान करनी होगी। देखना होगा कि भक्त कवियों की दृष्टि मानवीयता का कितनी गहराई तक संस्पर्श कर सकी है? सामन्ती जीवन पद्धति जिस जीवन रस को सोख रही थी सूर, जायसी ने वहाँ सरस धारा के सोते को प्रवाहित किया। सूर ने लोक कथनों को तोड़ा। उनके यहाँ जीवनप्रियता और उत्सवधर्मिता है। सूरसागर का प्रेम मानव जीवन का प्रेय है। वह लोक से न्यारा नहीं सामंती समाज से न्यारा है। सामंती बंधनों से मुक्त उन्मुक्त, स्वच्छन्द है। मीरा ने सामन्ती रूढ़ जीवन मूल्यों की चुनौतियों को स्वीकार कर अन्दरुनी दबावों, को झेलते हुए उनके खिलाफ संघर्ष किया। मीरा की भक्ति प्रतिरोध की (प्रोटेस्ट) की भक्ति है।

इस प्रकार भक्तिधारा में निर्गुण के साथ सगुण मत का अन्तर्मिश्रण हुआ। इन दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं को ज्ञान और भक्ति के द्वन्दात्मक सम्बन्धों के बीच रखकर देखना होगा। दोनों के भीतर मध्ययुगीन जीवन मूल्यों के समान सकारात्मक पक्षों की तलाश दृष्टि के पारदर्शी होने में सन्देह पैदा करती है। सगुण भक्ति में बदलती सामाजिक स्थितियों में अनेक पौराणिक कर्मकाण्डीय प्रवृत्तियों के प्रति विरोध भाव व्यक्त करते हुए भी ब्राह्मण वर्चस्व के प्रति अतिरिक्त सजगता दिखती है जिसे निम्नवर्गीय दलित संतों ने चुनौती दी थी। उन्होंने निर्गुण और सगुण को लोक और शास्त्र के द्वन्द के रूप में देखा, दोनों को एक जैसा मानते हुए डॉ0 नामवर सिंह ने लिखा कि-' ' राजसत्ता भक्तों के लिए सर्वथा उपेक्षा की वस्तु थी। उसके प्रति भक्तों के मन में न तो किसी प्रकार की भक्ति का भाव था न विरोध का। यह बहुत सही नहीं लगता, क्योंकि कबीर आदि संतों में राजसत्ता की उपेक्षा जोरदार स्वरों में मिलती है पर सगुण भक्तों के बारे में कहना ठीक नहीं है। दरअसल भक्ति का महिमामण्डन, उसमें निहित भक्तिजन्य प्रेमभाव इस प्रकार के एप्रोच को जन्म देता है, जबकि निर्गुण संतों की व्यापक विद्रोही तीखी दृष्टि सगुण भक्ति में सीमित संकुचित रूप लेकर उपस्थित हुई।

संत कवियों का निगेटिव रुख, उनका विरोधभाव जनसामान्य तक संप्रेषित ही नहीं संवहित होता है। उन्होंने न केवल वेद और शास्त्र की जड़ता को अस्वीकार किया वरन् लोकरूढ़ि में मौजूद अंध विश्वासों का भी पुरजोर विरोध किया। जबकि आचार्य शुक्ल और डॉ0 रामविलास शर्मा सगुण भक्ति को भागवत धर्म और वैष्णव धर्म का विकास यानि वेदशास्त्र समर्थित स्वीकार किया। आचार्य द्विवेदी ने निर्गुण मत को श्लोकचिता के साथ खड़ा किया। इस प्रकार भक्ति-काव्य के सन्दर्भ में दो तरह की अवधारणाएँ स्पष्ट हैं, जिसमें भक्ति और योग, लोक और शास्त्र, आध्यात्मिकता और भौतिकता, पारलौकिकता और इहलौकिकता के बीच विरोध और समन्वय के मुख्य बिन्दु बने। इसको डॉ0 मैनेजर पाण्डेय ने 'हिन्दी आलोचना का महाभारत' कहा है, 'जिसका कुरुक्षेत्र है भक्तिकाव्य। इसी बाद-विवाद की स्थिति में मुक्तिबोध को सगुण मत' निम्नवर्ग के विरुद्ध उच्चवंशीय संस्कारशील अभिरुचि वालों का संघर्ष 'प्रतीत हुआ जो सही था। कृष्ण भक्ति कई अर्थों में निम्नवर्गीय भक्ति आन्दोलन से प्रभावित थी, लेकिन तुलसीदास की रामभक्ति तो वर्ण व्यवस्था का खण्डन करते हुए भी रामराज्य में उसी का आदर्शीकरण करती दिखती है। वास्तव में लोकधर्म का रूप कबीर से तुलसीदास तक उत्तरोत्तर बदलता चला गया, महाकवि तुलसीदास को लेकर अतिवादी प्रतिक्रियायें भी आयीं। मुक्तिबोध और डॉ0 नामवर सिह ने उन्हें 'वर्ण व्यवस्था के पोषक' कवि के रूप में देखा तो आचार्य शुक्ल उनकी सराहना करते नहीं थकते और डॉ0 रामविलास शर्मा को तो वे श्रेष्ठ सामन्त विरोधी कवि प्रतीत होते हैं। अन्तर्विरोध तुलसीदास में अवश्य हैं, सामन्ती वर्चस्व से स्वयं को बचा पाना उनके लिए सम्भव न हो सका था। यही कारण है कि उनमें सामन्ती सम्बन्धों में मुक्ति की बजाय सन्तुलन की प्रवृति प्रबल रही। हमें देखना होगा कि कैसे एक बड़ा रचनाकार असंगठित होते बिखरावग्रस्त समाज के सारे वैषम्यों को समेटकर संतुलन देने की कोशिश कर रहा था उनके विरोध या संघर्ष की दिशा भले ही काल्पनिक हो पर कवि का रामराज्य का यह विकल्प उनके विरोध को अधिक रचनात्मक रूप प्रदान करता है। सामन्ती वर्ग सम्बन्धों, चरित्रों, सामन्ती ढाँचे के पक्ष में जब महाकवि खड़े होते हैं तो वर्णव्यवस्था के पोषक दिखने लगते हैं, पर अनेकशः उन्होंने वर्ण व्यवस्था पर चोट की है।

दरअसल उस दौर में सामाजिक अन्तर्विरोधों की झलक विरोध और समन्वय के भीतर मिलती है, जिसे कबीर, जायसी, सूर, मीरा, तुलसी ने अपने-अपने स्तर से अभिव्यक्त किया। इन कवियों ने ब्रह्मलीन आनन्दावस्था को

प्रेम के साथ जोड़कर ही देखा। प्रेम ऐसा मूल तत्त्व है, जिसे दोनों धाराओं के कवियों में समान रूप से अवस्थित देखते हैं। इस प्रेमतत्त्व ने अनेकता में एकता स्थापित करने का कार्य किया। राष्ट्रीय स्तर पर जनसामान्य को एकसूत्र में पिरोया। प्रेम को हम भक्ति आन्दोलन की आत्मा के बहाव के रूप में देख सकते हैं। जो भी आध्यात्मिकता यहाँ उभरी है, उसके केन्द्र में मनुष्यता रही है। जहां भी सगुण भक्त कवि शास्त्र सम्मत् विधियों के साथ अपने को खड़ा करते हैं, वहाँ उनका सीमित नजरिया ब्राह्मणवादी विचारधारा की पुष्टि करने लगता है। बावजूद इसके भक्तिकाव्य की लोकपरकता अद्वितीय है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों को सीधे-सीधे आत्मसात् कर मार्मिक अंकन करना भक्त कवियों की खासियत है। उन कवियों ने रचनात्मक प्रयोगात्मक वैविध्य के धरातल पर भी लोकजीवन में समाहित नया रूप-विधान ग्रहण किया, जो लोकपरम्पराओं की ऊर्जा और जीवंतता से सम्पृक्त था। लोकरूपों का वैविध्य संस्कृत की अभिजात्य परम्परा को तोड़कर अस्तित्त्व में आया। देशी जन भाषाओं में लोकसंस्कृति और लोकसंवेदनाओं की यह अभिव्यक्ति सामन्त विरोधी प्रकृति की द्योतक है। पर्व, उत्सव और प्रवृति के बीच रचा-बसा जनजीवन अपनी प्रामाणिक पहचान बनाने में समर्थ रहा। लोक-जीवन में सांस्कृतिक क्षेत्रों का जितना फैलाव है उतनी गहराई भी है। झूलना, हिडोला, चाँचर, होली, सोहर आदि लोकरूप, लोक जीवन की उपज हैं। विघटित होती सामन्ती व्यवस्था के बीच जनसामान्य की सहज भावनाओं, मनोवृत्तियों से रिश्ता कायम करता यह आन्दोलन हिन्दी साहित्य के इतिहास में समृद्धत्तर युग के रूप में व्याख्यायित हुआ।

मध्य युग के उत्तरार्द्ध तक आते-आते सामन्ती ताकतें सिर उठाने लगीं और विरोध भाव जो संत भक्त कवियों के यहाँ अभिव्यक्त हुआ था, कमजोर पड़ने लगा। भक्ति धारा का वह आवेग क्रमशः अवरुद्ध होता चला गया, जन पक्षीय सौन्दर्य-दृष्टि क्षीण होती गयी और कलापक्ष की प्रधानता के साथ ही रीतियुग का प्रारम्भ हुआ। सवाल उठता है कि भक्तियुगीन व्यापक आन्दोलन के बाद साहित्य पुनः संकुचित, सीमित परिधि में क्यों सिमट गया। धर्माचार्यों द्वारा पैदा की गयी साम्प्रदायिक कट्टरता को संत भक्त कवियों ने कम किया था, पर बाद में यह कट्टरता बढ़ी और रीतिवाद का पुनरुत्थान हुआ।

रीतिकालीन यह काव्य परम्परा हिन्दी भाषी प्रदेश में सामन्त वर्ग की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा है। यह परम्परा एकबारगी नहीं पनपी बल्कि भाषा की अभिजात्यता, कथ्य की वक्रता, कल्पना की उड़ान सगुण काव्य में

ही उसकी झलक दिखने लगी थी। दरअसल सामाजिक परिवर्तन अप्रत्याशित नहीं होते उसके पीछे निर्माण की लम्बी पृष्ठभूमि होती है। तुलसीदास के समय से ही एक नये ढंग का जातीय-सांस्कृतिक विचलन उपस्थित होने लगा था। वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद, भाग्यवाद आदि को पुर्नस्थापित करने का प्रयास हुआ। सामाजिकता के पौराणिक आदर्शों को लोकमर्यादा का रूप दिया गया। धर्म सम्बन्धी जिन रूढ़ आस्थाओं को भक्ति विवेक सम्पृक्त कर रही थी, वह फिर अन्तर्विरोधों से घिर गयी।

मानवतावादी उदारता के साथ-साथ वर्ण व्यवस्था के प्रति कट्टरता अस्तित्त्व में आयी। मुक्तिबोध ने सही लिखा कि, जो भक्ति आन्दोलन जनता से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक चेतना, सांस्कृतिक आशा-आकांक्षाएँ बोलती थीं, उसका मनुष्य सत्य बोलता था। इसी भक्ति आन्दोलन को उच्चवर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना दिया और उससे अपना समझौता करके, अनन्तर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया। इस प्रकार भक्तिकाल से ही रीतियुग के बीजसूत्र मिलने लगे थे, भक्ति का प्रभाव भी रीतियुगीन कवियों पर था। इस दौर में भक्ति की विभिन्न धारायें और सम्प्रदा थे, पर उनमें कोई जीवन्तता, आवेग न था वरन् प्रवृत्तिगत जड़ता प्रधान हो गयी। रीतियुगीन कवि भी भक्त होने का दावा करते हैं। उन्होंने श्राधा कन्हाई के सुमिरन का बहाना तो किया ही लेकिन यह प्रवृत्ति क्षीण ही रही। उनकी कविताएँ भक्तियुगीन सरसता, जीवन्तता के निकट भी नहीं पहुँच सकीं। भक्ति का आवेगात्मक प्रवाह बौद्धिकता में सिमटकर रह गया। यहाँ अहम् सवाल खड़ा होता है कि भक्ति के अजस्त्र प्रवाह में हिचकोले लेता साहित्य रीतिकालीन संकुचित परिधि मेंश्रृंगार और नायिका भेद तक सिमट कर क्यों रह गया। (डॉ0 नामवर सिंह के शब्दों में कह सकते हैं।) यदि आरम्भ के शास्त्र निरपेक्ष निर्गुण काव्य की शास्त्र सापेक्ष सगुण परिणति की ओर ध्यान दें तो शास्त्रीयतावाद के पुनःउत्थानवाद के रूप में रीतिकाव्य के प्रसार की संगति लग जाती है। निर्गुण काव्य की व्यापकता, उसकी ऊष्मा, ओजस्वी तेवर सगुण भक्ति धारा में आकर सीमित नरम रुख ग्रहण कर लेते हैं। आगे चलकर सगुण भक्ति के ढर्रे पर रीतियुगीन कविता का विकास होता है। सूर कृष्ण रसिकों के आदर्श बन गये, नायिकाओं के अनेक भेदों का चित्रण सूर ने किया है। नन्ददास ने नायिका भेद पर स्वतन्त्र अथ ही लिख डाला। राधा-कृष्ण के भोग विलासमय चित्रों की बात

ही क्या? राम जिनकी पूरी युवावस्था बनवास में ही बीती उन्हें भी रीतिकाल के प्रवाह में भोग-विलास में लिप्त दिखाया गया। सन्त कवियों की भाषायी अटपटी सपाट बनी अभिजात्य रूप ले लेती है। लेकिन सूर-तुलसी की ब्रजभाषा उनके कवित्त-सवैयों का विकसित रूप रीतिकालीन कविता में देखने को मिलता है। निश्चित ही भक्ति आन्दोलन का उदात्त सांस्कृतिक प्रवाह दरबारी चमत्कारिक वृत्तियों में सिमटकर रह जाता है। मौलिक उद्‌भावनाओं के स्थान पर रस, अलंकार छंद, नायिका-भेद आदि के क्षेत्र में संस्कृत की पुरानी क्लासिक परम्परा का सतही, उथला पुनःउत्थानवादी रूप लिए कविगण उपस्थित होते हैं। फिर संस्कृत की पन्द्रह सौ वर्ष पुरानी समृद्ध परम्परा का पुनःअवतरण क्योंकर सम्भव था, उसका पिष्टपेषण ही हो सकता था, अतः समाज के बहुआयामी पक्षों से कटकर काव्यशास्त्रीय लक्षण में आबद्ध हो काव्यकौशल अभिव्यक्त होने लगा। रीति साहित्य में उक्ति भंगिमा, अतिरंजित चमत्कार युक्त आलंकारिक चित्रणों की भरमार हो गयी, जो राजाश्रयी राजाओं की विलासी मानसिकता को परितृप्त करती थी। आधुनिक युग में प्रगतिशील जनपक्षधर कविता के बाद इसी प्रकार का प्रभाव प्रयोगवादी कवियों में देखने को मिलता है, जहाँ कविगण पूँजीवादी संस्थानों के पक्षधर बनकर अमूर्त सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध का प्रचार-प्रसार करते हैं। उनकी कविताओं में निहित चमत्कारिक भाव कहीं-कहीं जुगुप्सा पैदा करने वाला होता है। रीतिकाल में पनपी भोगवादी प्रवत्ति के कारण नारी के नख-शिख वर्णन के अतिरेक भरे चित्र मिलते हैं। जिसके कारण ताजगी भरे नैसर्गिक सौन्दर्य-बिम्बों का अभाव हो गया। स्वकीया के बजाय परकीया प्रेम की प्रवृत्ति का प्राधान्य हो गया। नायकों की एक प्रेमिका या तीन-तीन प्रेमिकाएँ होंगी, प्रेमिका के भी एक से अधिक प्रेमी हो सकते है, भोग विलास का आलंबन मात्रा बनकर रह गयी। विलासिता में आपादमस्तक डूबे सामन्तों हेतु विलास-सामग्री का उत्पादन होने लगा जरदोजी कपड़े, गहने, जेवर, इत्र आदि का व्यापक पैमाने पर उत्पादन हुआ। उत्पादन कार्य के लिए यदि कारीगरों की कमी होती थी तो बड़े पैमाने पर लोगों को गुलाम बनाया जाता।

प्रो0 इरफान हबीब ने इसका जायजा अपनी पुस्तक मध्यकालीन भारत में लिया है। सामन्त वर्ग की शान-शौकत गहने, जेवर, कपड़ों के साथ ही हाथी, घोड़ों की संख्या से आँकी जाती थी। धन अय्यासी के मद में डूबे सामन्त उपभोक्ता संस्कृति को प्रश्रय देते थे। कवियों ने सौन्दर्य के अतिरेकपूर्ण चित्रों को रचा। चित्रण के लिए चित्रण की प्रवृति लक्षण ग्रन्थों के आधार पर मजबूत हुई

सहज नैसर्गिक सौन्दर्य गायब हो गया। बिहारी, आलम, बोधाएघनानन्द आदि में सौन्दर्य के अनेक आकर्षक जीवन्त चित्र भी मिलते हैं। दरबार और भक्ति की कविता के साथ ही साथ ऐसी कविताएँ भी इस दौर में लिखी गयीं जिनका सम्बन्ध न तो भक्ति से था न ही दरबार से। दर्शन सम्बन्धी रीति-नीति के दोहे, वीरता सम्बन्धी कवितायें आयीं। भूषण छत्रसाल आदि ने जिमि करुणामयी वीर रस की अवतारणा की। रीतियुगीन नंगी लोकलुप कविताओं को व्यक्त करने की होड़ में निश्चित ही यह बड़ी उपलब्धि थी। इसी दौर में लाल कवि ने महाराज छत्रसाल का जीवनचरित लिखा श्रीतिकाल में कोई जीवन चरित लिखे यह काम अपने में यथार्थवाद और प्रगति का चिह्न है। इस तरह साहित्य में रीतिवाद का ढांचा टूटा नहीं कई बार झटके खाने के बाद भी लोकवादी साहित्य का विकास होता रहा। इसी से इस प्रश्न का जवाब भी मिल जाता है कि रीतियुगीन कविता की सामाजिक असम्बद्धता को देखते हुए पूरी तरह से उसे नकार देने की बजाय अन्तर्विरोधी परिस्थितियों के विश्लेषण पर दृष्टि निक्षेप आवश्यक है। भक्तियुग की विराट चेतना के निषेध में रीतियुग का प्रारम्भ आध्यात्म की जगह भौतिक सत्य की स्वीकृति थी। ईश्वर के स्थान पर जीवन को केन्द्र में रखना था, जो बड़ी बात थी। लेकिन भौतिक विलासिता के संकुचित घेरे में आबद्ध हो जीवन की व्यापकता छीज गयी, निष्प्राण हो गयी और आध्यात्म के निषेध का भी कोई दार्शनिक आधार उनके पास नहीं था। निश्चित ही इसका कारण तद्युगीन परिस्थितियां थी, जो मनुष्य की इच्छा से स्वतंत्र और ज्यादा बलवती होती हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, डॉ0 रामविलास शर्मा, डॉ0 नामवर सिंह आदि ने इन स्थितियों के अन्तर्विरोधों को बखूबी विश्लेषित किया है। दरअसल रीतियुगीन साहित्य का अन्तर्विरोध वही था, जो हर जगह सामन्तवाद के अन्दर होता है। सामन्ती समाज में राजसत्ता निश्चित ही भू-स्वामी वर्ग के हाथ में होती है। जिस समाज में यह साहित्य रचा गया, उसका नेतृत्व सामन्तों के हाथ में था। उन्हीं के दरबारी कवियों ने उसे पुष्पित पल्लवित किया, उसने अपना और अपने अन्नदाताओं का मनोरंजन किया। कुछ आलोचक यह स्वीकार करते हुए भी कि यह परम्परा विकृत है, इसका दोष सारे समाज पर मढ़ते हैं न कि सामन्त वर्ग विशेष पर। लेकिन विलास और अनाचार के जो साधन इन सामन्तों और उनके चाटुकारों को सुलभ थे, वे जनसाधारण को सुलभ न थे। जनसाधारण की काव्य रुचि मूलतः दरबारी काव्य रुचि से भिन्न है। इसलिए पूरे समाज को दोष न देकर सामन्तवर्ग को दोष देना चाहिए जो किसानों की कमाई पर ऐश करते

थे। ईश्वर के अंश बनकर धर्म की रक्षा के नाम पर जर्जर सामन्ती व्यवस्था कायम रखे थे। यह स्वीकार करना होगा कि साहित्य का सामाजिक आधार होता है, उस पर किन्हीं विशेष वर्गों की रुचि आदि का प्रभाव पड़ता है। जाहिर है कि रीतिवादी साहित्य सामन्ती समाज की विलासी मानसिकता की परितृप्ति में रचा गया। उच्चवर्गीय इस समाज से विच्छिन्न जनसामान्य की स्थिति दिन-ब-दिन बदतर होती चली जा रही थी। सामन्ती समाज के दमनात्मक रवैये के खिलाफ जनसामान्य के भीतर पैदा हुई जागृति जगह-जगह जनान्दोलनों का रूप लेकर उभरी। किसानों-कारीगरों की मुक्ति की आकांक्षा को लेकर शिवाजी के नेतृत्व में मराठों, सिक्सों, जाटों का संघर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच गया। इस प्रकार सामन्ती सामाजिक ढाँचा अपनी विसंगतियों से घिर जाता है और पतनशील परिस्थितियाँ उसे सांस्कृतिक ह्रासोन्यूखता की ओर ले जाती हैं। सामन्ती रूढ़ियों की परिधि के भीतर से ही आधुनिक काल की शुरुआत हुई, अंग्रेजी शासन की नींव पड़ी। अभिजात्य और लोकरुचि के बीच नया सेतु विकसित हुआ। लोक सम्बद्ध धारा अपने अन्तर्विरोधों से सम्पृक्त हो पुनः प्रवाहमान हुई।

इस प्रकार प्रस्तुत पुस्तक में मध्ययुगीन उपलब्धियों को विभिन्न निबन्धों में सुसंगत सोच के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास हुआ है। इतनी सुपरिचित और निश्चित विषयबद्धता में उल्लेखनीय मौलिकता का दावा तो बड़ी बात होगी, लेकिन विश्लेषण में वस्तुमूलक दृष्टि का प्रयोग एक हद तक अवश्य हुआ है, जिससे विश्लेषण की प्रमाणिकता और बढ़ी ही है। लेकिन सही निर्णय तो विज्ञ पाठक ही दे सकते हैं।

प्रोफेसर नित्यानंद तिवारी की छवि स्मृति में आते ही कवि शमशेर की एक काव्यपंक्ति की अनायास याद हो आती है-'सगुण दिवस का विचारता-सा मौन।' छठे वेतन आयोग के कार्यान्वयन और सातवें वेतन आयोग की सिफारिशों के लागू होने का इंतजार करते खुशहाल मध्य-वर्ग तथा सुखासीन समुदाय के तंदुरुस्त और बड़बोले शिक्षक मित्रों के बीच दुबली-पतली काया वाले तिवारी जी का दहाड़ता हुआ मौन हममें से कुछ लोगों को भले न सुनाई पड़े, किंतु, पढ़ने-लिखने में रुचि रखने वाले छात्रों और प्राध्यापकों के लिए उनकी समझदार चुप्पी आज के तथाकथित उत्तर-आधुनिक युग में पहले की अपेक्षा ज्यादा अनुकरणीय है। वजह यह कि जैसे ठीक-ठीक पढ़ाने के लिए यथायोग्य खुद पढ़ना-लिखना जरूरी है, वैसे ही कुछ मतलब की बात करने के लिए दूसरों को सुनने का धीरज भी अपरिहार्य है।

याद रहे कि इस सुनने-सुनाने के क्रम में व्यक्तिगत बातों पर नित्यानंद जी का काष्ठमौन धारण कर लेना भी मानीखेज हुआ करता है। हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय और मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी में संगोष्ठी के दरमियान उनके संपर्क में आने पर मैंने अनुभव किया कि उम्र के इस पड़ाव पर भी नई से नई किताब पढ़ने और युवा पीढ़ी को जल्दबाजी में छोटी पगडंडी पर चलने के बजा, मुख्य सड़क से पूरा फासला तय करके ज्ञान के अथाह सागर में तैराकी की जगह गोताखोरी करने की प्रेरणा देना उनका स्वभाव है। इस प्रसंग में मुरारी के सुप्रसिद्ध श्लोक का स्मरण स्वाभाविक है–

अब्धिर्ललन्घितेव वानरभटैः किन्त्वस्य गंभीरताम्।
आपाताल-निमग्न-पीवरतनु-र्जानाति मद्राचलः॥

सार्वजनिक कार्यक्रमों में नई पीढ़ी के रचनाकारों और प्राध्यापकों की अनुभूति की व्यापकता और गहराई को थाहती-तौलती प्रो-तिवारी की अनुभवी आँखें तथा कुँवर नारायण की एक कविता का शीर्षक उधार लेकर कहें तो 'साथ के लोगों' में अपनी पुरानी पहचान को वापस पाने का संतोष उनके चेहरे पर साफ झलकता है:

'साथ के लोगों में
अब बहुत कम लोग बचे हैं।
जो हैं वे
बाद के लोगों की भीड़ में
कुछ इस तरह हैं
कि उनमें से अचानक जब
कोई मिल जाता है
तो पहचान कर आश्चर्य होता है
कि उसमें अब भी
ऐसा कुछ बचा रह गया है
जिसे पहचानना
अपनी ही किसी पुरानी
पहचान को वापस पाना है।'
(कुँवर नारायण–हाशिए का गवाह)

मात्र-भेद से कुछ इसी तरह की बात मैंने अपने गृहनगर मुजफ्फरपुर में आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री, हिंदी के कृति कवि और नवगीतकार राजेंद्र

प्रसाद सिंह और अपभ्रंश काव्य के विद्वान प्रोफेसर प्रमोद कुमार सिंह में भी देखी है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शिष्य नामवर जी, केदार जी और मैनेजर पांडे भी इसी परंपरा को समृद्ध करने वाले महान शिक्षक रहे हैं। एक हद तक शिवकुमार मिश्र और 'वक्रोक्ति सिद्धांत और छायावाद' ग्रंथ के लेखक तथा हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय में लगभग तीन दशक पूर्व मेरे शिक्षक रहे स्वर्गीय विजेंद्र नारायण सिंह में भी यह गुण था। कहने की जरूरत नहीं कि विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्वान अध्यापकों की पीढ़ी अब समाप्त प्राय: है–'तेहि नो दिवसा गत:'।

वस्तुत: डॉ. नगेंद्र के बाद दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के विद्वान प्राध्यापकों की, जो त्रिमूर्ति पूरे देश में हिंदी पढ़ने-पढ़ाने वालों के बीच अपने शब्द और कर्म की वजह से बहुचर्चित रही है, उनमें निर्मला जैन, नित्यानंद तिवारी और विश्वनाथ त्रिपाठी शामिल हैं। इनमें निर्मला जैन अपने तल्ख अंदाज के साथ ही साहित्य-सिद्धांत पर अद्‌भुत पकड़ और विपुल मात्रा में आलोचनात्मक लेखन, नित्यानंद तिवारी अपने मितभाषी स्वभाव और नए-पुराने साहित्य की सामयिक व्याख्या और विश्वनाथ त्रिपाठी अपनी व्यवहार कुशलता तथा आलोचना कर्म के अलावा सृजनात्मक लेखन के कारण जाने जाते रहे हैं।

गौरतलब है कि इनमें मात्रा की दृष्टि से डॉ. तिवारी का लिखा-बोला भले ही अल्प रूप में पुस्तकाकार सामने आया हो, पर उसमें वजन कम नहीं है। बहरहाल, विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपे उनके व्याख्यानों व आलेखों के अलावा उनकी सात पुस्तकें प्रकाशित हैं–मध्ययुगीन रोमांचक आख्यान, आधुनिक साहित्य और इतिहास, सृजनशीलता का संकट, प्रसंग और आलोचना, मध्यकालीन साहित्य पुनरावलोकन, 'एक तरह की कला के विरुद्ध' और अन्य निबंध, साहित्य का स्वरूप।

वस्तुत: वे उन गिने चुने आलोचकों में एक हैं जिन्होंने साहित्य और संस्कृति की व्याख्या करने के साथ ही हिंदी में आलोचना की संस्कृति को समृद्ध किया है।

नित्यानंद तिवारी शिद्दत के साथ महसूस करते रहे हैं कि 'पुराने साहित्य को बोझ और नए साहित्य को गतिशील मानकर चर्चा करने में एक खास किस्म का उत्साह और आसानी होती है और अगर पक्षधरता उल्ट दी जाए तो भी उत्साह के किस्म और आसानी के स्तर में कोई अंतर नहीं पड़ता... अपनी सामयिक

स्थिति को परिभाषित किए बिना और उस जमीन पर मजबूती से खड़े हुए बिना सदियों का ज्ञान बोझ और पागलपन के अलावा और कुछ नहीं है।'

लगभग पूरी दुनिया में इतिहास की छाती पर मूँग दलते मिथक के महिमामंडन और धार्मिक चरमपंथ तथा फिरकापरस्ती के नए सिरे से उभार के इस युग में अपने पुराने साहित्य को बोझ मानकर नकार देने और नए साहित्य में हर सामयिक समस्या का समाधान ढूँढ़ने वाले अध्येताओं को याद दिलाना जरूरी है कि कोई चाहकर भी इतिहास से पिंड नहीं छुड़ा सकता। इतिहास को मार्क्स ने ठीक ही प्राक-भविष्य (Pre-future) कहा है। इसलिए भविष्य निर्माण के लिए इतिहास और इतिहास की विभिन्न कालावधियों में रचित साहित्यिक कृतियों से दो-चार होना हमारी नियति है। इस क्रम में अतीत के बजाए जब हम अपने वर्तमान की जमीन पर खड़े होकर पुराने साहित्य की सामयिक व्याख्या में प्रवृत्त होंगे, तभी समाज को भविष्य के लिए कोई सार्थक संदेश प्राप्त हो सकेगा।

कहने की जरूरत नहीं कि अपने समय-समाज से जुड़कर अतीत से संवाद किए बगैर पुरानी कही जाने वाली कृतियों की कोई भी व्याख्या पंडिताऊपन से ग्रस्त हो जाने के लिए अभिशप्त होती है। परिणामतः उसमें पांडित्य का रस भले मिल जाए पर उस स्फूर्ति और ताजगी का नितांत अभाव होता है, जो आलोचना को सर्जनात्मक साहित्य का दर्जा दिलाती है। विजयदेव नारायण साही और रामपूजन तिवारी की जायसी पर लिखित पुस्तकों से गुजरते हुए इस बात को सहज ही अनुभव किया जा सकता है।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी कि तुलसीदास रचित दोहे और जायसी के दोहे में मात्र-भेद के चलते उनके रचना विधान तथा रचनात्मक अभिप्राय और प्रभाव में पैदा होने वाले अंतर से अनभिज्ञ भक्ति काव्य के उत्साही आलोचकों से भिन्न नित्यानंद तिवारी के व्याख्यानों एवं निबंधों में मौजूद पुराने साहित्य की नई सामयिक व्याख्या इसलिए विश्वसनीय है, क्योंकि वे शास्त्रीयता एवं पांडित्य की शक्ति और सीमा से पूरी तरह वाबस्ता हैं।

उनके आलोचक के लिए अतीत का वारिस होना गौरवपूर्ण या खतरनाक होने के बजाए एक ऐसा दायित्व-बोध है, जो अतीत के व्याख्याता के 'अनुभव के भीतर से फालतू उत्साह और आसानी के भाग को समाप्त कर देता है।' इसका सुफल उनके ही शब्दों में यह होता है कि व्याख्याता के 'अनुभव के भीतर एक

नई अंतर्वस्तु पैदा हो जाती है, जो प्रश्नों और व्याकुलताओं का सामना करने में सार्थक होती है।'

अपने इस नजरिए से जायसी कृत 'पद्मावत' के सुप्रसिद्ध 'सुआ-संवाद खंड' में निहित 'संघर्ष का कला-विवेक' को उद्घाटित करते हुए डॉ. तिवारी सवाल उठाते हैं कि-'इस खंड के चारों पात्र-राजा, रानी, तोता और धाय, मध्ययुग के सामाजिक तथ्य हैं या महज रूपक या प्रतीक हैं—आत्मा, परमात्मा, गुरु के? इन्हें हम रूपक या प्रतीक से भिन्न सामाजिक तथ्य मानें तो किस तरह से? इस संदर्भ में उनकी स्थापना है कि मध्ययुगीन समाज अध्यात्म और काम की अतिजीवी शक्तियों से आक्रांत था और इन दोनों क्षेत्रों में स्त्री की स्थिति नगण्य और तुच्छ थी। उनके शब्दों में मध्यकाल में वह अध्यात्म में सबसे बड़ी बाधा थी ही, काम के क्षेत्र में भी वह केवल उपभोग की वस्तु थी। उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता और अस्मिता नहीं थी। 'कवि ने उस आध्यात्मिकता और कामुकता से भरे समाज में नागमती की 'प्लेसिंग' इस तरह से की है कि नारी की सामाजिक हैसियत अत्यंत त्रसद रूप में उभरती है।'

'पद्मावत' के इस लोकप्रिय खंड की नब्ज पर सही जगह उँगली रखते हुए प्रो. तिवारी ने विस्तार से बताया है कि किस प्रकार इस पूरे खंड में नागमती का 'डर', 'संकट', 'श्रूप', 'अधिकार का घमंड' और तोते का साहस और संकट, दोनों ही मानसिकताएँ तत्कालीन समाज की तथ्यगत सच्चाइयाँ हैं। सवाल यह है कि तात्कालिक समाज की ये 'तथ्यगत सच्चाइयाँ' कविता के रचना-विधान में कैसे अनुस्यूत होती हैं। उनके अनुसार 'कवि की प्रतिभा का कमाल इस बात में है कि वह दोनों सामाजिक सच्चाइयों को परस्पर एक-दूसरे के विरुद्ध तनावपूर्ण विधान में संगठित कर देता है। वह इन सच्चाइयों की कल्पना नहीं करता, वे तो समाज में मौजूद हैं, उसकी कल्पना और कला इस तनाव के संगठन में है।' प्रकारांतर से आलोचक यहाँ रेमंड विलियम्स की 'अनुभूति की संरचना' का उल्लेख करते हुए परस्पर विरोधी-सी प्रतीत होने वाली अनुभूतियों के जिस तनावपूर्ण संगठन को जायसी की कविता में रेखांकित करते हुए उसमें कला की सिद्धि का दिग्दर्शन करा रहा है, उसे एलेन टेट ने अँग्रेजी कविता के हवाले से 'काव्य में तनाव' के रूप में अभिहित किया है।

इस खंड में तोता द्वारा राजा को पद्मावती के रूप-सौंदर्य का अभिज्ञान कराने से नागमती के मन में पैदा हुए डर, तोता को छिपाने-मरवाने की उसकी

मंशा और अंत में राजा की जिद पर पुनः राजा को तोता सौंपने की बाध्यता की मनःस्थिति को महाकवि जायसी ने इस प्रकार व्यक्त किया है–

जुआ हारि समुझी मन रानी। सुआ दीन्ह राजा कहें आनी।।
मान मते हो गरब जो कीन्हा। कंत तुम्हार मरम मैं चीन्हा।।

'श्रीरामचरितमानस' में राम के वनगमन के अवसर पर कौशल्या के मन की घुटन से नागमती की घुटन की तुलना करते हुए आलोचक विलक्षण सूझ का परिचय देते हुए दो मध्ययुगीन कृतियों के इन दोनों पात्रों की वैयक्तिक घुटन को तात्कालिक समाज में स्त्री की घुटन से जोड़ते हुए 'लूसिएँ गोल्डमान' के हवाले से कविता में व्यक्त इस मानसिक संरचना की मध्यकालीन समाज में पूर्व उपस्थिति की ताकीद करता है। इसके बाद वह नागमती के कथन का अर्थान्वयन करता है–'और मैं तो जानती थी कि तुम मुझमें ही मिले हुए हो लेकिन जब ताक कर देखती हूँ तो सबके पास हो।' और अंत में उसकी चुभती हुई एक टिप्पणी है–'यह जो दार्शनिकीकरण है उसके पीछे 'मर्म मैं चीन्हा' का व्यंग्य धधकता रहता है। यानि तुम महान हो, तुम नीच हो।'

यह कविता के समाजशास्त्रीय विश्लेषण की पराकाष्ठा के साथ ही नित्यानंद तिवारी के आलोचक की सर्जनात्मकता का सबूत भी है।

कहने की जरूरत नहीं कि अस्सी के दशक में बीजिंग में स्त्री अधिकारों को लेकर हुए सम्मेलन में दुनिया के विभिन्न देशों से आए प्रतिभागियों द्वारा स्त्री के प्रति भेदभाव को नस्लीय भेदभाव करार देने की माँग के साथ ही रेडिकल स्त्रीवाद से लेकर समन्वित स्त्रीवाद तक की तमाम बहसों से प्रेरित और प्रभावित होकर ही पद्मावत के 'सुआ-संवाद खंड' की उपर्युक्त व्याख्या संभव है। ऐसा विश्लेषण यदि ठेठ मार्क्सवादी आलोचकों के यहाँ या 'नई कविता' की जमीन पर खड़े विजयदेव नारायण साही की पुस्तक 'जायसी' में नहीं मिलता, तो इसमें चकित होने वाली कोई बात नहीं है।

साहित्य को समाजविज्ञान का उपनिवेश बनने से बचाते हुए इतिहास, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र एवं मनोविज्ञान के सिद्धांतों का नई-पुरानी साहित्यिक कृतियों के विश्लेषण-क्रम में यथासमय समानुपातिक प्रयोग करके रचना के विचारधारात्मक अर्थ को उद्घाटित करने में प्रोफेसर तिवारी को महारत हासिल है। अपने दूसरे गुरुभाइयों की तरह साहित्यिक कृतियों को इतिहास की धारा में रखकर देखना और विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत करना उनकी आलोचनात्मक प्रक्रिया की विशेषता है। इस क्रम में वे 'संग्रह-त्याग' का विवेक बखूबी रखते

हैं और भारत की सामासिक संस्कृति और धर्मनिरपेक्षता की पुरजोर वकालत करते हैं।

शास्त्रों में विस्तार से धर्म-भाषा और दीक्षागम्य भाषा का अंतर स्पष्ट किया गया है। किंतु प्रो. तिवारी हमें बताते हैं कि काव्यभाषा या कलात्मक संरचना के कारण मूल विषय का रचनात्मक प्रभाव कैसे अपने प्रतिपाद्य विषय से भिन्न ही नहीं। बल्कि विपरीत होता है। एक व्याख्यान में उन्होंने 'पद्मावत' में वर्णित 'हिंदू-तुर्कों का संघर्ष' के संदर्भ में साहित्यिक कृतियों की महती भूमिका को रेखांकित करते हुए कहा है कि हिंदू और तुर्कों में लड़ाई हुई। पूरी कथा को जायसी ने भाषा, चौपाई में लिख दिया और जब कहानी बन गई तो उसका विषय (हिंदू-तुर्कों का संघर्ष) प्रेम की संवेदना में बदल गया। शब्द-भाषा और कथा संरचना की यह अद्भुद परिवर्तनकामी प्रक्रिया है। उसे हिंदू और तुरुक होकर न पढ़ा जा सकता है, न उसका रस लिया जा सकता है। जो हिंदू और तुरुक होकर पढ़ना चाहता है, वह तो घटना में ही गर्क हो जाएगा यानि कहानी से दूर हो जाएगा। जो हिंदू और मुसलमान होते हुए भी अपनी धार्मिक पहचान का अतिक्रमण करने वाला हो, वह कहानी के निकट हो जाएगा। 'पद्मावत' की साहित्यिक संरचना भाव, रूप और समाज का भी रूपांतरण करती है।' कहना न होगा कि शुक्ल जी, साही जी और डॉ. तिवारी समेत 'पद्मावत' के तमाम अध्येताओं द्वारा चिह्नित यह 'मानुष प्रेम', 'नारद भक्तिसूत्र' के दार्शनिक अनिर्वचनीय 'मूकास्वादानवत प्रेम' से कहीं ज्यादा मानवीय है।

बावजूद इसके जब डॉ. तिवारी किसी दैनिक समाचार पत्र में प्रकाशित एक खबर का हवाला देते हुए भक्तिकाव्य की परंपरा में अनुस्यूत भारत की गंगा-जमुनी तहजीब और सामासिक संस्कृति के असली वारिस के तौर पर कट्टर हिंदू और मुसलमान समुदायों के प्रतिनिधियों के बरअक्स एक ऐसी मोहतरमा का नामोल्लेख करते हैं, जो गुजरात के दंगाग्रस्त लोगों को न्याय दिलाने को लेकर अतिसक्रिय होने पर भी 'फोर्ड फाउंडेशन' से अपने स्वयंसेवी संगठन के लिए दान में प्राप्त बड़ी धनराशि के घोटाले में खुद आरोपी हैं, तो बात बन नहीं पाती। बहरहाल, इसे एक बड़े आलोचक के विचलन के तौर पर देखा जाना चाहिए।

वस्तुतः साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में लोकप्रिय नुस्खा अपनाने वाले लोगों के लिए यह एक सबक भी है। याद रहे कि अखबार में प्रकाशित किसी समाचार के समुचित् रचनात्मक तत्त्वांतरण से रघुवीर सहाय या नागार्जुन की तरह कविता

तो रची जा सकती है, पर सार्थक आलोचना हरगिज नहीं। ऐसी आलोचना के सतही राजनीतिक बयानबाजी में बदल जाने की संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता।

भारत जैसे बहुधार्मिक, बहुजातीय और वैविध्यपूर्ण सभ्यता और मिली-जुली संस्कृति पर मंडराते खतरे से निजात दिलाने के लिए 'पद्मावत' के संदर्भ में विजयदेवनारायण साही द्वारा रेखांकित 'फिरदौसी समन्वय' की प्रक्रिया बहाल रखने हेतु चिंतनशील मध्यकालीन कविता की सामयिक व्याख्या में प्रवृत्त हमारे समय के आलोचकों को याद दिलाना शायद जरूरी हो कि आज सूफी मत और काव्य में निहित प्रेम-संवेदना को किसी अन्य मजहब के बजाय खुद इस्लाम धर्म की अंदरुनी फिरकावारियत से खतरा है। मध्यपूर्व में 'अलकायदा', 'इस्लामिक स्टेट ऑफ इराक एंड सीरिया' आदि के अलावा 'हिजबुल्लाह' और 'बोकोहराम' जैसे संगठन और भारतीय उपमहाद्वीप में अरब मुल्कों की इमदाद पर इस्लाम के जिस वहाबी या सलाफी रूप का तेजी से विस्तार हो रहा है, उसके अनुसार सूफियों के यहाँ मौसिकी और कव्वाली का प्रचलन हिंदुओं के भजन-कीर्तन की इस्लाम में अवांछित घुसपैठ है और इससे छुटकारा पाने के लिए सूफी मजारों पर ऐन 'धमाल' के वक्त बम धमाके भी हो रहे हैं। हाल में क्वेटा (पाकिस्तान) के पास एक सुप्रसिद्ध सूफी दरगाह में 'लश्कर-ए-जांघवी' द्वारा प्रायोजित बम विस्फोट में सैंकड़ों लोग मारे गए हैं और बैंगलुरु में सलाफियों के सशस्त्र हमले में सूफी संप्रदाय के कई लोग बुरी तरह घायल हुए हैं। विचित्र बात है कि पाकिस्तान के जिस पंजाब प्रांत में सूफी फकीर बाबा बुल्लेशाह का मजार है, उसी प्रांत में 'लश्कर-ए-तैयबा', 'जैश-ए-मुहम्मद', 'जमातुल दावा' और 'लश्कर-ए-जांघवी' के मुख्यालय भी हैं और अभिनवगुप्त, लल्लेश्वरी और हब्बा खातून की भूमि कश्मीर घाटी में खीर भवानी तथा हजरतबल की मिली-जुली संस्कृति को ठेंगा दिखाते हुए धार्मिक चरमपंथी छोटे बच्चों के स्कूल जला रहे हैं।

कुल मिलाकर कहना यह है कि 'मानुस प्रेम भयऊ बैकुंठी' की घोषणा करने वाला तसव्वुफ दर्शन और सूफी संप्रदाय आज इस्लाम के भीतर भयानक संकट के दौर से गुजर रहा है। यह बात अलग है कि धार्मिक चरमपंथियों और वहाबियों के यहाँ उन्माद चाहे जितना हो, उनमें उस कवित्व का अभाव है जिसमें निहित 'त्रसद दृष्टि' (Tragic Vision) की वजह से हम अपनी धार्मिक पहचान को अतिक्रमित करके अश्रुपूरित नेत्रों से से बाबा बुल्लेशाह की तरह

मजहबी किताबों का निरंतर पठन-पाठन करके आलिम-फाजिल होने के बजाए 'अपने आप को पढ़ना' बेहतर महसूस करने लगते हैं। ('पढ़-पढ़ आलिम फाजिल होयां/अपने आपको पढ़या ही नइ'–बुल्लेशाह) एक-दूसरे की निर्मम हत्या करने वाले आतंकी मजहबी संगठनों के मुजाहिदीनों को अपने विरोधियों की लाश पर पागलपन में नाचते देखकर जायसी याद आते हैं, जो अलाउद्दीन और रत्नसेन के बीच हुए युद्ध में संभावित अनाचार की आशंका से क्षत्राणियों के जौहर कर लेने, युद्ध के दरमियान तमाम शूर-वीर जवानों के मारे जाने और अंततः राजमहल के धराशायी हो जाने के बाद चित्तौर के कथित इस्लामीकरण पर उदास होकर कहते हैं–

जौहर भई इस्तिरी पुरुख भए संग्राम
पातसाहि गढ़ चूरा चितउर भा इसलाम।

प्रोफेसर साही ने जायसी पर लिखते हुए बार-बार इस दोहे में निहित अर्थध्वनि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है और प्रो. तिवारी भी अपने व्याख्यानों में इसे बारहा उद्धृत करते रहे हैं।

साहित्य के एक आलोचक और विचारक के रूप में नित्यानंद तिवारी को मूलगामी (Radical) कहने पर कुछ अग्निवर्षी रचनाकारों और क्रांति के ढिंढोरची आलोचकों को आपत्ति हो सकती है। पर स्मरणीय है कि मनुष्य होने के लिए जब मूल मानदंड मनुष्यता ही है, तो धर्म, जाति, वर्ग, लिंग आदि को लेकर इतिहास की विभिन्न कालावधि में पैदा हुए पूर्वाग्रह की वजह से मानव समाज में निर्मित तमाम तरह की गुलामी की संरचनाओं से मनुष्य की मुक्ति के लिए सतत् सोचने-विचारने वाले विद्वान को रेडिकल कहना अतिशयोक्ति नहीं है।

यह आकस्मिक नहीं है कि एक प्रोफेसर-आलोचक के रूप में डॉ. तिवारी साहित्य-अध्ययन की पद्धति और आलोचना की प्रक्रिया को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हैं तथा इस संदर्भ में आलोचक के दृष्टिकोण और अपने समय-समाज से उसका बाखबर होना जरूरी मानते हैं। वजह यह कि इसके बगैर आलोचना किसी महान कृति की सामयिक अर्थवत्ता एवं सार्थकता की पड़ताल करने के बजाए पिष्टपेषण या चर्वितचर्वण करने लिए अभिशप्त होती है। अपने एक व्याख्यान में वे स्पष्ट रूप में इस बात को स्वीकार करते हुए कहते हैं–'मेरी कठिनाई अध्ययन पद्धति की है। उस जगह को खोजने-पाने की है जहाँ से भक्ति को फिर से देखा जा सकता है। जिस तरह किसी वस्तु का चित्र, कोण और कैमरे के

फोकस पर निर्भर करता है, उसी तरह भक्ति-साहित्य का पुनरावलोकन भी देखने के कोण और दूरी पर निर्भर करता है।'

सच तो यह है कि नित्यानंद तिवारी का आलोचना साहित्य एक ऐसी स्मृति-मंजूषा की तरह है जिसमें उनकी हर नई स्थापना पुरानी स्थापनाओं को याद करती हुई और साथ ही अपने निजी पदचिह्न छोड़ती हुई आगे बढ़ती है। अभिनवगुप्त के शब्दों में कहें तो यह स्थिति मधुमास में हरे-भरे वृक्ष की तरह है, जहाँ कृति में पहले देखे हुए अर्थ-संदर्भ एवं लक्षित संरचनाएँ भी रस-परिग्रह से नवीन समझ को जन्म देती हैं।

2

कबीर का काव्य

कबीर साहित्य

कबीर साहित्य में जहाँ दर्शन, अध्यात्म, ज्ञान, वैराग्य की गूढ़ा मिलती है, वहीं उनके साहित्य में समाज सुधार का शंखनाद भी है। वह दार्शनिक होने के साथ-साथ, समाज सुधारक भी थे। समाज सुधार अर्थात् जन जीवन का उत्थान कबीर के जीवन की साधना थी। सुधार का समन्वित स्वरूप कि उन्होंने भक्ति के आडम्बरों पर चोट की, वहीं अंधविश्वासों, रूढ़, प्रथा, परम्पराओं, अंधविश्वासों पर भी निर्भीकता से लिखा। भक्ति में सुधार, समाज की कुप्रथाओं में सुधार, जीवन के हर क्षेत्र में सुधार, कबीर के जीवन की साधना रही है। कबीर कवि होने के साथ ही साधक थे, दर्शनिक थे, तत्त्वान्वेषी थे, भक्त और ज्ञानी थे। वस्तुतः कबीर का जीवन उच्चतम मानवीय व्यक्तित्त्व की अभिव्यक्ति है।

प्रचलित धारणाओं के अनुसार, मस्तमोला संत कबीर रामानन्द जी के शिष्य थे। कबीर की जन्म तिथि में विभिन्न मतमतांतर हैं, पर विक्रमी सम्वत् के अनुसार पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, सोलहवीं का प्रारम्भ व 1455-56 के आस-पास ही इनका जन्मकाल रहा। जन्मस्थान कोई काशी, कोई मगहर तथा कोई बलहरा गाँव आजमगढ के पास मानता है।

कबीर जब हुए, देश में उथल-पुथल का समय था। मुसलमानों का आगमन, उनका आक्रमण, राज्य स्थापन और यहीं बस जाना, देश के इतिहास

की बड़ी महत्त्वपूर्ण घटना थी। मुसलमानों का आक्रमण राजनीतिक वर्चस्व कायम करना ही नहीं बल्कि इस्लाम का प्रचार अधिक था। अलग सांस्कृतिक एवं सामाजिक इकाई के रूप में कट्टर विरोधी होकर रहना, हिन्दू समाज को अपने में आत्मसात् करने की भावना से सारा हिन्दू समाज आतंकित एवं भयभीत था। मूर्तियाँ व मंदिर खण्डित होते रहे। इस विषमतापूर्ण समय में हिन्दुओं के समक्ष, अपनी सांस्कृतिक आत्मरक्षा का प्रश्न था। ऐसे में पुनरुत्थान कार्य, साम्प्रदायिक एवं जातीय भावनाओं को सामने रखकर किया जाना सम्भव नहीं था। हिन्दुओं में भी विभिन्न मतमतांतर, पंथ, सम्प्रदाय बन चुके थे, जो हिन्दू समाज में अन्तर्विरोध दर्शाते थे। मानना होगा, ऐसी विपरीत स्थितियों के समय में जब हिन्दू संस्कृति, धर्म, जाति को झकझोर दिया गया था–कबीर की समन्वय साधना ने, समाज में पुनरुत्थान का कार्य किया। पुनरुत्थान भक्ति साधना से ही सम्भव था। कबीर का साहित्य इस बात का साक्षी है।

कबीर के पहले तथा समसामयिक युग में भक्ति साधनाओं में सबसे प्रमुख भक्ति साधना ही है। भक्ति आन्दोलन ने भगवान की दृष्टि में सभी के समान होने के सिद्धान्त को फिर दोहराया। कबीर की भक्ति भावना तथ्य से जुड़ी है। भक्तिपथ में भक्ति के द्वारा प्राण स्पंदन देने वालों में कबीर भी प्रमुख हैं। अनेकानेक साधनाओं के अन्तर्विरोध के युग में कबीर जन्मे थे। कबीर के व्यक्तित्त्व को सभी अन्तर्विरोधों ने प्रभावित किया, इस पर कबीर ने समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया। कबीर में परिस्थितिजन्य निर्णय की अभूतपूर्व क्षमता थी। वह आत्मचिंतन से प्राप्त निष्कर्षों को कसौटी पर कसने में कुशल थे। कबीर ने मानवतावादी तत्त्वग्राही व्यक्तित्त्व से अपने दृष्टिकोण में मजहबी, वर्गगत अहंकार तथा आचार संहिता की जड़कारा में उलझा देने वाले तत्त्वों को भूला त्याग दिया। कबीर नैतिकता से विकसित भगवत्प्रेम में मानव कल्याण समझते हैं। कबीर की दृष्टि में यही मानवता का मूल आधार है। कबीर जीवन का चरम लक्ष्य परम तत्त्व की प्राप्ति मानते हैं। इस तत्त्व को प्राप्त करने का प्रमुख साधन ज्ञान और प्रेम है। कबीर के अनुसार ज्ञान से मतलब शास्त्र ज्ञान के अहंकार से मुक्त व्यक्ति को सहज रूप से ज्ञान होता है। ऐसे ही प्रेम का सहज रूप ही कबीर को मान्य है। कबीन ने आध्यात्मिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साधना के स्तर पर समन्वय का संदेश दिया है। कबीर संत हैं–भक्त हैं। कबीर ने अपने साहित्य में, भक्ति, प्रेम व सदाचरण से भगवान को प्राप्त करने का संदेश दिया। वस्तुतः कबीर की व्यथा किसी वर्ग विशेष की व्यथा नहीं थी, वह व्यापक मानवता की व्यथा थी।

वर्तमान संदर्भों में उन्होंने आज की तरह प्रतिष्ठा दिलाने के लिए साधना नहीं की। क्योंकि कबीर के अनुसार साधना से ही मूलतः मानव व प्राणी मात्रा का आध्यात्मिक कल्याण है।

कबीर के अनुसार पिंड और ब्रह्माण्ड से भी परे, निर्विशेष तत्त्व है, वही सबसे परे परम तत्त्व है, जिसका अनुभव होने पर भी वाणी में अवर्णनीय है। वह अलख है, उसे कहा नहीं जा सकता। पिंड और ब्रह्माण्ड से परे का जो तत्त्व है वही हरि है। उसका कोई रूप नहीं, वह घट-घट में समाया है। कबीर ने इस तत्त्व को कई नामों से व्यक्त किया है। अलख, निरंजन, निरर्भ, निजपद, अभैपद, सहज, उनमन तथा और भी। "गुन में निरगुन, निरगुन में गुन हैं बाट छाड क्यो जहिए। अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणां जाई।।" इसी चिंतन में कबीर कहते हैं–"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है–बाहर भीतर पानी। फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तत कथौ गियानी।।" तथा–"पानी ही से हिम भया हिम है गया बिलाई।।"

प्रेम साध्य भी है–साधन भी। प्रेम स्वयं ही प्रेम का वरण करता है। अर्थात् केवल प्रेम के अनुग्रह से प्रेम प्राप्त होता है। प्रेम लौकिक, अलौकिक दोनों स्तर पर एक-सा रहता है। प्रेम वस्तुतः आत्मरति रूप है, अहेतुक होता है। आत्मबोध की सहज स्थिति आत्मरति है। कबीर ने आध्यात्मिक प्रेम को लौकिक माध्यम से व्यक्त किया–"कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं। सीस उतारे हाथि करि, सो पैसे घर मांहि।।' कबीर का सौन्दर्य ब्रह्म सविशेष ब्रह्म है, इससे उनके अन्तःकरण में भगवान का प्रेम जागा तो कबीर ने कहा, "संतो भाई आई ज्ञान की आंधी रे। भ्रम की टाटी सबै उडानी, माया रहे न बाँधी रे।।" कबीर के अनुसार लौकिक और आध्यात्मिक का भेद प्रेम की दिव्यता में बाधक नहीं है।

रहस्यवाद की तीन अवस्थाएँ होती हैं, अनुराग उदय, परिचय, मिलन। कबीर साहित्य में भावनात्मक तथा साधनात्मक दोनों तरह का रहस्यवाद मिलता है। कबीर में भावनात्मक रहस्यवाद की प्रथम अवस्था से ही साधनात्मक रहस्यवाद के भी दर्शन होते हैं। "पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान। कहिये कूँ सोभा नहीं–देख्या ही परमान।।" वह और भी आगे लिखते हैं–"सुरति समाणी निरति में, निरति रही निरधार। सुरति निरति परचा भया तब खुले स्वयं दुवार।।" और भी "जो काटो तौ डहडही, सींचौ तौ कुमिलाइ।।"

कबीर साहित्य में साखी कबीर का जीवनदर्शन है। साखी कबीर साहित्य का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश है। साखियों में कबीर का व्यक्तित्त्व समग्र रूप से

व्यक्त हुआ है। "साखी आँखी ज्ञान की समुझि लेहु मनमाहिं। बिनु साखी संसार का झगडा छूटै नाहिं।।' कबीर साहित्य में गुरु का स्थान सर्वोपरि ईश्वर समकक्ष है। कबीर के अनुसार गुरु शिष्य को मनुष्य से देवता कर देता है। "गुरु गोविन्द दोउ खड़े-काके लागूं पाय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो मिलाय।" सद्गुरु के बारे में कबीर लिखते हैं "ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जन बीसरि जाइ। जब गोविन्द कृपा करी, तब गुरु मिलिया आई।।" इसके विपरीत अज्ञानी गुरु के बारे में कबीर कहते हैं–"जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध। अंधे अंधा ठेलिया, दून्यूं कूप पडंत।।" आज के संदर्भों में दार्शनिक कबीर की व्यक्त हुई कुछ-कुछ सटीक-सी लगती भावना "नां गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव। दुन्यूं बूडे धार में–चढ पाथर की नाव।"

जैसे ही सुमिरण को अंग, यानि मनन की अवस्था, विनती को अंग अर्थात् भगवान के समक्ष अपनी लघुता की अनुभूति तथा पति परमेश्वर के भाव की अभिव्यक्ति है। कबीर ने इस तरह 'अंग' के माध्यम में पचासों अंगों के तहत ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है। कबीर पर वैदिक विचारधारा, वैष्णव विचारधारा का प्रभाव था, उन्होंने अपने साहित्य में एकात्मक अद्वैतवाद, ज्ञान तत्त्व, गुरु भक्ति, भगवद्भक्ति, अध्यात्म योग, प्रणवोपासना, जन्मान्तरवाद, भगवान के विविध वैष्णवी नाम, ब्रह्म स्वरूपों में श्रद्धा, भक्ति उपासना तथा प्रपत्ति, योग के भेद, माया तत्त्व आदि के माध्यम से काव्य रचना को संजोया। निर्भीक सुधारवादी संत कबीर ने, भक्ति ही क्या हर क्षेत्र में अंधविश्वासों पर चोट कर, रूढ परम्पराओं आडम्बरों से अलग हट, सामाजिक सुधार भरपूर किया। हिन्दू-मुसलमान दोनों के ही साम्प्रदायिक, रूढ़ग्रस्त विचारों की उन्होंने आलोचना की। अपनी सहज अभिव्यक्ति में कबीर ने लिखा–"कंकर पत्थर जोड़ के मस्जिद दी बनाय। ता पर मुल्ला बांग दे, बहरा हुआ खुदाय।।" इतना ही नहीं इससे भी बढ़कर लिखा "दिन में रोजा रखत हो, रात हनत हो गाय। यह तो खून औ बंदगी, कैसे खुशी खुदाय।।" ऐसे ही हिन्दुओं के अंधविश्वासों पर उन्होंने चोट की। धर्म के क्षेत्र में आडम्बरों का कबीर ने खुला विरोध किया। "पाहन पूजे हरि मिले–तो मैं पूजूं पहार। ताते तो चाकी भली, पीस खाय संसार।।" कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी था उन्होंने बताया "मूंड मुंडाए हरि मिले, सबही लेऊँ मुंडाए। बार-बार के मूंड ते भेड न बैकुंठ जाए।।" कबीर ने हिन्दुओं के जप-तप, तिलक, छापा, व्रत, भगवा वस्त्र, आदि की व्यर्थता बताते हुए लिखा–"क्या जप क्या तप संयमी, क्या व्रत क्या अस्नान। जब लगि मुक्ति न जानिए, भाव भक्ति भगवान।।" मरणोपरांत

गंगा में अस्थि विसर्जन पर कबीर ने लिखा–"जारि वारि कहि आवे देहा, मूआ पीछे प्रीति सनेहा। जीवित पित्रहि मारे डंडा, मूआ पित्र ले घालै गंगा।।" समाज में कई अस्वस्थ लोकाचारों पर कबीर ने प्रहार किए। वे कहते हैं–यदि मन में छल कपट की गर्द भरी है तो योग भी व्यर्थ है। "हिरदे कपट हरिसँ नहिं सांचो, कहा भयो जो अनहद नाच्यौ।।"

कबीर ने ब्रह्म को करुणामय माना है। ब्रह्म माया, और जीव के सम्बन्ध में कबीर के दार्शनिक विचारों का वर्णन है। कबीर निर्गुणोपासक थे। उन्होंने राम के गुणातीत, अगम्य, अगोचर, निरंजन ब्रह्म का वर्णन किया है। मानना होगा भक्ति आन्दोलन के सुधारवादी भक्त कवियों में कबीर का अपना अलग ही स्थान व नाम है। भगवा वस्त्र पहन कर जंगलों की खाक छानने के पक्ष में कबीर नहीं थे। उन्होंने धर्म एवं भक्ति में दिखावे को त्याग, तीर्थाटन, मूर्तिपूजा आदि को धर्म परिधि से बाहर रखा। कबीर कहते हैं, "काम-क्रोध, तृष्णा तजै, ताहि मिले भगवान।।" राम अर्थात् उनके ब्रह्म में अपने खुद के समर्पण की चरम सीमा देखने योग्य है। "लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।" कबीर के बारे में किसी ने यह सही लिखा प्रतीत होता है, "ज्ञान में कबीर परम हंस, कल्पना में योगी, और अनुभूति में प्रिय के प्रेम की भिखारिणी पतिव्रता नारी हो।" कबीर में अतिवाद कहीं भी नहीं। ब्रह्म परमसत्ता को कबीर ने सहजता से सर्वव्यापी बताते हुए कहा–"ना मैं गिरजा ना मैं मंदिर, ना काबे कैलास में। मौको कहाँ ढूंढे बंदे, मैं तो तेरे पास में।।"

कबीर का दृष्टिकोण सुधारवादी ही रहा। कबीर ने किसी धर्म विशेष एवं दर्शन की पताका ऊँची नहीं की। वस्तुतः उन्होंने तो अपने को मानवीय तत्त्वों से सम्बद्ध रखा। धर्म व सुधार के नाम पर कबीर ने जनता को उलझाया नहीं, उन्होंने तो खण्डन कर उलझनों से दूर रखा। जनमानस को अभेद की ओर प्रेरित कर भ्रम-माया से दूर रहने की प्रेरणा दी, इसीलिए कबीर मानवतावादी सुधारक माने जाते हैं। कबीर ने ईश्वर प्रेम, भक्ति व साधना में माया को बाधक माना। कबीर ने कहा माया आकर्षक व मनमोहक है। माया आचरण के कारण ही आत्मा अपने परमात्म रूप को नहीं पहचान पाती। माया ब्रह्म से मिलने नहीं देती। "कबीर माया पापणी, हरि सूं करे हराम। मुख कडया को कुमति, कहने न देई राम।।

पंद्रहवीं शताब्दी में संतकाल के प्रारंभ में सारा भारतीय वातावरण क्षुब्ध था। बहुत से पंडित जन इस क्षोभ का कारण खोजने में व्यस्त थे और अपने-अपने ढ़ंग पर समाज और धर्म को संभालने का प्रयत्न कर रहे थे। इस अराजकता का

कारण इस्लाम जैसे एक सुसंगठित संप्रदाय का आगमन था। इसके बाद देश के उथल-पुथल वातावरण में महात्मा कबीर ने काफी संघर्ष किया और अपने कड़े विरोधों तथा उपदेशों से समाज को बदलने का पूरा प्रयास किया। सांप्रदायिक भेद-भाव को समाप्त करने और जनता के बीच खुशहाली लाने के लिए निमित्त संत-कबीर अपने समय के एक मजबूत स्तंभ साबित हुए। वे मूलत: आध्यात्मिक थे। इस कारण संसार और सांसारिकता के संबंध में उन्होंने अपने काल में जो कुछ कहा, उसमें भी आध्यात्मिक स्वर विशेष रूप से मुखर है।

इनके काजी मुल्ला पीर पैगम्बर रोजा पछिम निवाज।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा ग्यारिसि गंगदिवाजा।
कहे कबीर दास फकीरा अपनी राह चलि भाई।
हिंदू तुरुक का करता एकै ता गति लखी न जाई।

कबीर-व्यवहार में भेद-भाव और भिन्नता रहने के कारण सांप्रदायिक कटुता बराबर बनी रही। कबीर दास इसी कटुता को मिटाकर, भाई चारे की भावना का प्रसार करना चाहते थे। उन्होंने जोरदार शब्दों में यह घोषणा की कि राम और रहीम में जरा भी अंतर नहीं है–

कबीर ने अल्लाह और राम दोनों को एक मानकर उनकी वंदना की है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उन्होंने अध्यात्म के इस चरम शिखर की अनुभूति कर ली थी, जहाँ सभी भिन्नता, विरोध-अवरोध तथा समग्र द्वैत-अद्वैत में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। प्रमुख बात यह है कि वे हिंदू-मुसलमान के जातीय और धार्मिक मतों के वैमनष्य को मिटाकर उन्हें उस मानवीय अद्वैत धरातल पर प्रतिष्ठित करने में मानवता और आध्यात्म के एक महान नेता के समान प्रयत्नशील हैं। उनका विश्वास था कि "सत्य के प्रचार से ही वैमनष्य की भावना मिटाई जा सकती है। इस समस्या के समाधान हेतु, कबीर ने जो रास्ता अपनाया था, वह वास्तव में लोक मंगलकारी और समयानुकूल था। अल्लाह और राम की इसी अद्वैत अभेद और अभिन्न भूमिका की अनुमति के माध्यम से उन्होंने हिदू-मुसलमान दोनों को गलत कार्य पर चलने के लिए वर्जित किया और लगातार फटकार लगाई।

ना जाने तेरा साहब कैसा है,
मस्जिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहिरा है,
पंडित होय के आसन मारे लंबी माला जपता है।
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो भी साहब लगता है।

हिंदू-मुसलमान दोनों का विश्वास भगवान में है। कबीर ने इसी विश्वास के बल पर दोनों जातियों को एक करने का प्रयत्न किया। भाईचारे की भावना उत्पन्न करने की चेष्टा की।

सबद सरुपी जिव-पिव बुझों,
छोड़ो भय की ढेक।
कहे कबीर और नहिं दूज।
जुग-जुग हम तुम एक।

कबीर शब्द-साधना पर जोर दे रहे हैं। इनका कथन है, तुम श्रम तज कर शब्द साधना करो और अमृत रस का पान करो, हम तुम कोई भेद नहीं हैं, हम दोनों इसी एक पिता की संतान हैं। इसी अर्थ में कबीर दास हिंदू और मुसलमान के स्वयं विधायक हैं।

बड़े कठोर तप, त्याग, बलिदान और संकल्प शक्ति को अपना कवच बनाकर भारत की जनता ने अपनी खोई हुई स्वतंत्रता को प्राप्त कर ली, लेकिन इसके साथ ही सांप्रदायिकता की लहर ने इस आनंद बेला में विष घोल दिया। भारत का विभाजन हुआ। इस विभाजन के बाद असंख्य जानें गई, लाखों घर तबाह हुए और बूढ़े, बच्चे, जवान, हिंदू, मुस्लिम सब समाज विरोधी तत्त्वों के शिकार हुए। इन तमाम स्थितियों से निबटने के लिए मानवतावादी सुधार की आवश्यकता थी, यह काम अध्यात्म से ही संभव था। कबीर ने अपने समय और अब हमलोग भी एक दिन चले जाएँगे। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन अल्प है। इस अवधि का सदुपयोग इस स्मरण में करना चाहिए। सांसारिक हर्ष-विषाद को विशेष महत्त्व नहीं देना चाहिए।

पंडितों का ढोंगपूर्ण रवैया देखकर उन्हें चेतावनी देते हुए कहते हैं –

पंडित होय के आसन मारे, लंबी माला जपता है,
अंतर तेरे कपट कतरनी, सो सो भी साहब लगता है,
ऊँचा निचा महल बनाया, गहरी नेव जमाता है,
कहत कबीर सुनो भाई साधो हरि जैसे को तैसा है।

कबीर शोषणकर्ता को रोषपूर्ण आगाह करते है कि भगवान के दरबार में न्याय होने पर उन्हें अपने किए का फल अवश्य भुगतना पड़ेगा। दूसरी ओर निरीह जनता को वे समझाते हुए कहते हैं –

कबीर नौवति आपणी, दिन दस लेहु बजाई,
ऐ पुर पारन, एक गली, बहुरि न देखें आई।

महात्मा कबीर कहते हैं कि यह जीवन कुछ ही दिनों के लिए मिला है, अतः इसका उपयोग सार्थक ढंग से खुब आनंदपूर्वक करना चाहिए।

जो करेंगे सो भरेंगे, तू क्यों भयो उदास,
कछु लेना न देना, मगन रहना,
कहे कबीर सुनो भाई साधो,
गुरु चरण में लपटे रहना।

"महात्मा कबीर साहब संतप्त जनता को समझाते हुए कहते हैं कि कर्त्तव्य निर्विकार रूप से करो, व्यर्थ के प्रपंच में मत पड़ो, सर्वदा अपने मन को गुरु में लगाए रहो।"

जीवित ही कछु कीजै,
हरि राम रसाइन पीजै।

महात्मा कबीर दास ने पीड़ित जनता के दुख-दर्द को दूर करने के लिए "राम रसायन" का आविष्कार किया। कबीर साहब ने पहली बार जनता को उसकी विपलता में ही खुश रहने का संदेश दिया।

कबीर मध्यकाल के क्रांतिपुरुष थे। उन्होंने देश की अंदर और बाहर की परिस्थितियों पर एक ही साथ धावा बोलकर, समाज और भावलोक को जो प्रेरणा दी, उसे न तो इतिहास भुला सकता है और न ही साहित्य इतनी बलिष्ठ रूढियों पर जिस साहस और शक्ति से प्रहार किया, यह देखते ही बनता है।

संतों पांडे निपुण कसाई,
बकरा मारि भैंसा पर धावै, दिल में दर्द न आई,
आतमराम पलक में दिन से, रुधिर की नदी बहाई।

कबीर ने समाज की दुर्बलता और अद्योगति को बड़ी करुणा से देखकर, उसे ऊपर उठाने का मौलिक प्रयत्न किया। उन्होंने भय, भर्त्सना और भक्ति जैसे अस्त्रों का उपयोग राजनैतिक विभिषिकाओं और सामाजिक विषमताओं जैसे शत्रु को परास्त करने के लिए किया। कबीर साहब यह बात समझ चुके थे कि इन शत्रुओं के विनाश होने पर ही जनता का त्रण मिल सकता है, अतः उनका सारा विरोध असत्य, हिंसा और दुराग्रह से था। उनका उद्देश्य जीवन के प्रति आशा पैदा करना था।

कबीर का तू चित वे, तेरा च्यता होई,
अण च्यता हरि जो करै, जो तोहि च्यंत नहो।

महात्मा कबीर शोकग्रस्त जनता को सांत्वना देते हैं "तुम चिंता क्यों करते हो ? सारी चिंता छोड़कर प्रभु स्मरण करो।"

केवल सत्य विचारा, जिनका सदा अहार,
करे कबीर सुनो भई साधो, तरे सहित परिवार।

कब उनके अनुसार जो सत्यवादी होता है, उसका तो भला होता ही है, साथ-साथ उसके सारे परिवार का भी भला होता है और वे लोग सुख पाते हैं। वह कहते हैं, सारे अनर्थों की जड़, असत्य और अन्याय है, इनका निर्मूल होने पर ही शुभ की कल्पना की जा सकती है। इसी अध्यात्म का सहारा लेकर हिंदू-मुस्लिम के भेद-भाव को मिटाने का प्रयत्न किया था, इसके साथ-साथ ही उन्होंने अपने नीतिपरक पदों के द्वारा जनता का मनोबल बढ़ाने का प्रयत्न किया था। इसके साथ-साथ ही उन्होंने अपने नीतिपरक पदों के द्वारा जनता का मनोबल बढ़ाने का प्रयत्न किया था। आज के परिवेश में भी इन्हीं उपायों की आवश्यकता है।

सांप्रदायिक मतभेदों या दंगों का कारण अज्ञान या नासमझी है। इस नासमझी या अज्ञान को दूर करने के लिए कबीर दास द्वारा बताए गए उपायों का प्रयोग किया जाना आवश्यक है। कबीर की वाणी ही समस्त समस्याओं का निवारण करने में समर्थ है।

ऊँच-नीच, जाति-पाति का भेद मिटाकर सबको एक समान सामाजिक स्तर देने का कार्य किया। आज के संदर्भ में भी इसी चीज की जरूरत है।

गुप्त प्रगट है एकै दुधा, काको कहिए वामन-शुद्रा
झूठो गर्व भूलो मति कोई, हिंदू तुरुक झूठ कुल दोई॥

वर्तमान समस्याएँ चाहे सांप्रदायिक हो चाहे वैयक्तिक, सबका समुचित् समाधान नैतिक मूल्य प्रस्तुत करते हैं।

कबीर दर्शन में जाति-धर्म का कोई बंधन स्वीकार नहीं है। सारे अलगाववादी विधानों को तोड़कर वह एक शुद्र मानव जाति का निर्माण करता है, इसलिए आज के संदर्भ में इसकी उपयोगिता बढ़ गई है।

जिन दिनों कबीर दास का आविर्भाव हुआ था, उन दिनों हिंदूओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। देश में नाना प्रकार की साधनाएँ प्रचलित थी। कोई वेद का दीवाना था, तो कोई उदासी और कई तो ऐसे थे, जो दीन बनाए फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्य में लीन था। कई व्यक्ति ऐसे थे, जो मदिरा के सेवन

ही में सब कुछ पाना चाहता था तथा कुछ लोग तंत्र-मंत्र, औषधादि की करामात को अपनाए हुआ था।

इक पठहि पाठ, इक भी उदास,
इक नगन निरन्तर रहै निवास,
इक जीग जुगुति तन खनि,
इक राम नाम संग रहे लीना।

कबीर ने अपने चतुर्दिक जो कुछ भी देखा-सुना और समझा, उसका प्रचार अपनी वाणी द्वारा जोरदार शब्दों में किया –

ऐसा जो जोग न देखा भाई, भुला फिरे लिए गफिलाई
महादेव को पंथ चलावे, ऐसा बड़ो महंत कहावै॥

कबीर दास ने जब अपने तत्कालीन समाज में प्रचलित विडम्बना देखकर चकित रह गए। समाज की इस दुहरी नीति पर उन्होंने फरमाया –

पंडित देखहु मन मुंह जानी।
कछु धै छूति कहां ते उपजी, तबहि छूति तुम मानी।

समाज में छुआछूत का प्रचार जोरों पर देखकर कबीर साहब ने उसका खंडन किया। उन्होंने पाखंडी पंडित को संबोधित करके कहा कि छुआछूत की बीमारी कहाँ से उपजी।

तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद,
हम कत लौहू तुम कत दूध,
जो तुम बाभन बाभनि जाया,
आन घाट काहे नहि आया।

महात्मा कबीर साहब ब्राह्मण के अभिमान को यह कहकर तोड़ते हैं कि अगर तुम उच्च जाति के खुद को मानते हो, तो तुम किसी दूसरे मार्ग से क्यों नहीं आए ? इस प्रकार कबीर ने समाज व्यवस्था पर नुकीले एवं मर्मभेदी अंदाज से प्रहार किया। समाज में व्याप्त आडंबर, कुरीति, व्याभिचार, झूठ और पाखंड देखकर वे उत्तेजित हो जाते और चाहते कि जन-साधारण को इस प्रकार के आडम्बर एवं विभेदों से मुक्ति मिले और उनके जीवन में सुख-आनंद का संचार हो।

महात्मा कबीर के पास आध्यात्मिक ज्ञान था और इसी ज्ञान के द्वारा वे लोगों को आगाह करते थे –

आया है सो जाएगा, राजा रंक फकीर।
एक सिंहासन चढि चलें, एक बंधे जंजीर।

अपने कर्त्तव्य के अनुसार हर व्यक्ति को फल मिलना निश्चित है। हर प्राणी को यहाँ से जाना है। समाज व्याप्त कुरीतियों करने और जन-समुदाय में सुख-शान्ति लाने के लिए कबीर एक ही वस्तु को अचूक औषधि मानते हैं, वह है आध्यात्म। वे चाहते हैं कि मानव इसका सेवन नियमित रूप से करे।

महात्मा कबीर दास के सुधार का प्रभाव जनता पर बड़ी तेजी से पड़ रहा था और वह वर्ण-व्यवस्था के तंत्र को तोड़ रहे थे, उतने ही तेजी से व्यवस्था के पक्षधरों ने उनका विरोध भी किया। संत के आस-पास, तरह-तरह के विरोधों और चुनौतियों की एक दुनिया खड़ी कर दी। उन्होंने सभी चुनौतियों का बड़ी ताकत के साथ मुकाबला किया। इसके साथ ही अपनी आवाज भी बुलंद करते रहे और विरोधियों को बड़ी फटकार लगाते रहे।

तू राम न जपहि अभागी,
वेद पुरान पढ़त अस पांडे,
खर चंदन जैसे भारा,
राम नाम तत समझत नाहीं,
अति पढ़े मुखि छारा॥

इसी प्रकार कबीर अपने नीति परक, मंगलकारी सुझावों के द्वारा जनता को आगाह करते रहे और चेतावनी देते रहे कि मेरी बात ध्यान से सुनो और उस पर अम्ल करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा।

घर-घर हम सबसों कही, सवद न सुने हमारा।
ते भव सागर डुबना, लख चौरासी धारा॥

कबीर साहब समाज में तुरंत परिवर्तन चाहते थे। आशानुकूल परिवर्तन नहीं होते देखकर वे व्यथित हो उठते थे। उन्हें दुख होता था कि उनकी आवाज पर उनके सुझाव पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है।

आधुनिक संदर्भ में भी यही बात कही जा सकती है। आज भी भारतीय समाज की वही स्थिति है, जो कबीर काल में थी। सामाजिक आडंबर, भेद-भाव, ऊँच-नीच की भावना आज भी समाज में व्याप्त है। व्याभिचार और भ्रष्टाचार का बाजार गर्म है। आए दिन समाचार पत्रों में आग लगी, दहेज मौत, लूट, हत्या और आत्महत्या की खबरें छपती रहती हैं।

समाज के सब स्तर पर यही स्थिति है। "राजकीय अस्पतालों में जो रोगी इलाज के लिए भर्ती होते हैं, उन्हें भर पेट भोजन और साधारण औषधि भी नहीं मिलती। इसके अलावा अस्पताल में कई तरह की अव्यवस्था और अनियमितता है।"

देश के संतों, चिंतकों तथा बुद्धिजीवियों ने बराबर इस बात की उद्घोषणा की है कि "नीति-विहीन शासन कभी सफल नहीं हो सकता। नीति और सदाचार अध्यात्म की जड़ हैं। देश की अवनति तथा सामाजिक दूर्व्यवस्था का मुख्य कारण यही है कि आज हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को भूल कर पाश्चात्य चकाचौंध की ओर आकर्षित हो गए हैं। ऊपरी आडंबर और शान-शौकत को ही मुख्य वस्तु मान कर हम अपनी शालीनता, गरिमा तथा जीवन मूल्यों को भूल गए हैं, जिसका फल है–पतन, निराशा और दुख। आज के संसार में सब कुछ उल्टा हो रहा है और इसीलिए लोग सत्य का दर्शन नहीं कर पाते। कबीर-पंथ की परंपरा में स्वामी अलखानंद लिखते हैं –

सिंह ही से स्यार लड़ाई में जीति।
साधु करे चोरि चोर को नीति।
लड्डू लेई खात स्वाद आवे तीति।
मरीच के खात स्वाद मीठ मीति।
ऐसी ही ज्ञान देखो उल्टा रीति॥

इस नाजुक परिस्थिति से आध्यात्मिकता तथा नैतिकता ही हमें उभार सकती है। कबीर-साहित्य ऐसे ही विचारों, भावनाओं और शिक्षाओं की गहराई है। उसमें अनमोल मोती गुंथे हैं। उन्होंने मानव जीवन के सभी पक्षों को स्पर्श किया है, अत: आज की स्थिति में कबीर साहित्य हमारा मार्ग दर्शन करने में पूर्ण रूप से सक्षम है।

एक बूंद से सृष्टि रची है, को ब्रह्ममन को सुद्र।
हमहुं राम का, तुमहुं राम का, राम का सब संसार॥

कबीर का उपदेश सार्वभौम, सार्वजनिक, मानवतावादी तथा विश्वकल्याणकारी है। उन्होंने सामान्य मानव धर्म अथवा समाज की प्रतिष्ठा के लिए जिस साधन का प्रयोग किया था, वह सांसारिक न होकर आध्यात्मिक था।

आधुनिक संदर्भ में कबीर का कहा गया उपदेश सभी दृष्टियों से प्रासंगिक है। जिस ज्ञान और अध्यात्म की चर्चा आज के चिंतक और संत कर रहे हैं, वही उद्घोषणा कबीर ने पंद्रहवीं शताब्दी में की थी, अत: आज भी कबीर साहित्य

की सार्थकता और प्रासंगिकता बनी हुई है। आज के परिवेश में जरुरी है कि इसका प्रसार किया जाए, ताकि देश और समाज के लोग इससे लाभांवित हो सके।

सांप्रदायिक तनाव की स्थिति आज देश में सर्वाधिक चिंतनीय है। देश में संप्रदाय के नाम पर लोगों को आपस में खूब लड़ाया जाता है। राजनैतिक दल एवं राजनेता स्वयं जातिवाद या सांप्रदायवाद के प्रतीक बन गए हैं। आज हर वर्ष देश के कुछ भागों में संप्रदायिक दंगे का भड़क जाना और सैंकड़ों बेगुनाहों का खून बह जाना, सामान्य बात हो गई है।

1947 ई. में सांप्रदायिकता को आधार बनाकर देश का विभाजन कर दिया गया। यही सांप्रदायिकता की आग लगातार बढ़ती ही गई, अब तो स्थिति इतनी अधिक उत्तेजक हो गई है कि इस ओर सभी बुद्धिजीवियों और शुभ-चिंतकों का ध्यान आकृष्ट होने लगा है। प्रत्येक साल कही-न-कहीं दंगा होता रहता है। हजारों लोग हर दंगे में मारे जाते हैं। हजारों गिरफ्तारियाँ होती हैं। लाखों-करोड़ों की संपत्ति जला दी जाती है। यह सब आपसी धार्मिक मतभेदों की वजह से होता है। आवश्यकता है कि सभी धर्मों के प्रति आदर की भावना रखकर, भारत के समस्त नागरिकों को बंधुत्व की भावना और सहयोगपूर्वक रहने के प्रति जागरुक किया जाए।

हिंदू तुरुक की एक राह में, सतगुरु है बताई।
कहै कबीर सुनहू हो संतों, राम न कहेउ खुदाई॥

संत महात्मा कबीर ने सांप्रदायिकता का विरोध कड़े शब्दों में किया है। कबीर साहब से अधिक जोरदार शब्दों में सांप्रदायिक एकता का प्रतिपादन किसी ने नहीं किया।

सोई हिंदू सो मुसलमान, जिनका रहे इमान।
सो ब्राह्मण जो ब्राह्म गियाला, काजी जो जाने रहमान॥

महात्मा के अनुसार सच्चा हिंदू या मुसलमान वही है, जो ईमानदार है और निष्ठापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है। सारे अनर्थों की जड़ यही बेईमानी है। आदमी बईमान हुआ, तब सब अनर्थ कामों की शुरुआत हो गई। आज समाज में चारों तरफ बेईमानी के कारण ही वातावरण दुखी और असहनीय हो रहा है। आज का मनुष्य एक ओर ईश्वर की पूजा करता है और दूसरी ओर मनुष्य का तिरस्कार करता है। प्रेम के महत्त्व को कबीर साहब इस प्रकार बताते हैं –

पोथी पढि-पढि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय॥

कबीर के अनुसार प्रेम ही ऐसा तत्त्व है, जो पारस्परिक मैत्री का भाव लाता है और कटुता को समाप्त करता है।

काहि कबीर वे दूनों भूले, रामहि किन्हु न पायो।
वे खस्सी वे गाय कटावै, वादाहि जन्म गँवायो॥
जेते औरत मरद उवासी, सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर अल्ह राम का, सो गुरु पीर हमारा॥

हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए कबीर के उपदेश और उनके द्वारा किया गया कार्य आज सामान्य लोगों के अंदर फैलाने और बताने आवश्यक है। कबीर ने धार्मिक रूढ़ियों उपासना संबंधी गूढ़ मान्यताओं तथा मंदिर-मस्जिद विष्यक अंध आस्थाओं के अंतर्विरोधों को निर्ममतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था।

हिंदू कहे वह राम हमारा, तुरुक कहे रहिमाना
सत गहे, सतगुरु को चीन्हे, सतनाम विश्वासा,
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा।

वे कहते, प्रत्येक मानव को गुरु भक्ति और साधन का अभ्यास करना चाहिए। इस सत्य की प्राप्ति से सब अवरोध समाप्त हो जाते हैं।

जो सुख राम भजन में, वह सुख नहीं अमीरी में।

सुख का आधार धन-संपत्ति नहीं है। इसके अभाव में भी मानव सुख-शांति का जीवन जी सकता है।

चाह मिट्टी, चिंता मिटी मनवा बेपरवाह,
जिसको कुछ नहीं चाहिए वह शहनशाह।

वे कहते हैं, धरती पर सभी कष्टों की जड़ वासना है, इसके मिटते ही चिंता भी समाप्त हो जाती है और शांति स्वमेव आने लगती है। कबीर के कहने का तात्पर्य है कि पूजा-पाठ साधना कोई शुष्क चीज नहीं है, बल्कि इसमें आनंद है, तृप्ति है और साथ ही सभी समस्याओं का समाधान। इसलिए इसको जीवन में सर्वोपरि स्थान देना चाहिए। साधना के प्रति लोगों के हृदय में आकर्षण भाव लाने हेतु उन्होंने अपना अनुभव बताया।

इस घट अंतर बाग बगीचे, इसी में सिरजन हारा,
इस घट अंतर सात समुदर इसी में नौ लख तारा।

गुरु के बताए साधन पर चलकर ध्यान का अभ्यास करने को वे कहते हैं। इससे दुखों का अंत होगा और अंतर प्रकाश मिलेगा। गुरु भक्ति रखकर साधन पथ पर चलने वाले सभी लोगों को आंतरिक अनुभूति मिलती है।

कबीर का प्रेम

कंलि खोटा जग अंधेरा, शब्द न माने कोय,
जो कहा न माने, दे धक्का दुई और।

महात्मा कबीर किसी भी स्थिति में हार मानने वाले नहीं थे। वे गलत लोगों को ठीक रास्ते पर लाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने दो-चार धक्के खाना भी पसंद था। इस प्रकार कहा जाता है कि कबीर लौह पुरुष थे। वे मानव को प्रेम को अपनाने कहते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर का दूसरा नाम प्रेम है। इसी तत्त्व अपनाने को पर जीवन की बहुत सारी समस्याएँ स्वतः सुलझ जाती है।

मैं कहता सुरजनहारी, तू राख्यो अरुझाई राखे

कबीर साहब सदा सीधे ढ़ग से जीवन जीने की कला बताते थे। उनका कहना था कि प्रेम के अभाव में यह जीवन नारकीय बन जाता है।

कबीर प्याला प्रेम का अंतर दिया लगाया,
रोम-रोम से रमि रम्या और अम्ल क्या लाय,
कबीर बादल प्रेम का हम पर वरस्या आई,
अतरि भीगी आत्मा, हरी भई बन आई।

यही 'प्रेम' सब कुछ है, जिसे पान कर कबीर धन्य हो गये। इस बादल रूपी प्रेम की वर्षा में स्नान कर कबीर की आत्मा तृप्त हो गई और उसका मन आनंद विभोर हो उठा। वे कहते हैं, प्रेम ही सर्व है। उसी के आधार पर व्यक्ति एक-दूसरे के साथ बंधुत्व की भावना को जागृत कर सकता है। आज के परिवेश में इसी बंधुत्व की भावना के प्रसार की नितांत आवश्यकता है। कबीर साहब की वाणी आज भी हमें संदेश दे रही है कि संसार में कामयाब होने का एक मात्रा मार्ग धर्म और समाज की एकता है।

संत कबीर स्वयं ऐसे परिवार में जन्में थे, जो तत्कालीन समाज व्यवस्था में अस्पृश्य था। उन्होंने स्वयं वर्ण-व्यवस्था की कटुताओं को झेला था। कबीर साहब मध्यकाल में ब्राह्मण-व्यवस्था के विरुद्ध इस विद्रोह के सबसे बड़े नेता माने जाते हैं। आपने सर्वप्रथम भक्ति परंपराओं का प्रचार किया, जोकि ब्राह्मण-व्यवस्था के विरुद्ध थी। आपने जिस तरह ब्राह्मण-व्यवस्था के गढ़ काशी

में रहकर, इस व्यवस्था पर प्रहार करते रहे, यह अति सराहनीय माना जाता है। यहाँ के ब्राह्मणों ने तपस्थली को ब्राह्मण और क्षत्रियों तक ही सीमित कर दिया था। कबीर साहब ने इसके खिलाफ नया मूल्य स्थापित किया। उन्होंने वहाँ, "हरिजन सई न जाति' भक्त से समान कोई दूसरी जाति नहीं है। उन्होंने स्पष्ट तौर पर कहा कि जो भक्त है, वह यदि अस्पृश्य है, तब भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है। उन्होंने इस प्रकार भक्ति के हथियार से वर्णाश्रम अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर प्रहार किया। वह नया मूल्य स्थापित करते हुए कहते हैं –

"जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान।।"

तत्कालीन समाज व्यवस्था में जो व्यक्ति स्वयं नहीं पाता था, उसे अंग्रेज विचारक कीलिन विल्सन ने "आउट साइडर" कहा था। भक्ति काल का प्रत्येक कवि "आउट साइंडर" कहलाया, क्योंकि ये कवि रूढ़ियों अन्यायपूर्ण व्यवस्थाओं एवं परंपराओं को छोड़कर चलना चाहते थे। कबीर साहब मध्य काल के ऐसे पहले कवि थे, जिन्हें "आउट साइडर" कहा गया। कबीर लोक, वेद, शास्त्र तथा मंत्र को छोड़कर चलना चाहते थे। कबीर साहब को संग्राम का योद्धा कहा जाए, तो अच्छा होगा। कबीर का मानना था कि अगर भगवान को वर्ण-विचार कहना होता, तो वह जन्म से ही तीन विभाजक खींच देते। उत्पत्ति की दृष्टि से समस्त जीव समान है।

"जौ पै करता बरण बिचारै।
तौं जनमत तीनि डांडी किन सारे।।
उत्पत्ति ब्यंद कहाँ थै आया, जोति धरि अरु लगी माया।
नहिं कोइ उँचा नहिं कोइ नीचे, जाका लंड तांही का सींचा।।
जो तू वामन वमनीं जाया, तो आने बाट हवे काहे न आया।
जो तू तुरक तुरकनीं जाया तो भीतरि खतना क्यूनें करवाया।।

पंडित को वह वटूक्ति सुनाते हुए कहते हैं, जैसे गधा चंदन का भार वहन करता है, पर उसकी सुगंधि से अभिमूढ नहीं होता। उसी तरह पंडित भी वेद पुराण पढ़कर राम नाम के वास्तविक तत्त्व नहीं पाता।

पांडे कौन कुमति तोहि लगि, तू राम न जपहि आभागा।
वेद पुराण पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।।
राम नाम तत समझत नाहीं, अति अरे मुखि धारा।
वेद पढता का यह फल पाडै राबधटि देखौ रामा।।

कबीर के अनुसार ब्राह्मण को तत्त्वानुभव नहीं होने के कारण उसकी बात कोई नहीं मानता है।

पंडित संति कहि रहे, कहा न मानै कोई।
ओ अशाध एका कहै, भारी अचिरज होई॥

कबीर साहब ब्राह्मण को जाति-पाति बाँटने का जिम्मेदार मानते हुए कहते हैं कि ब्राह्मण का ज्ञान बासी है और उसका व्यक्तित्त्व पाखंडपूर्ण है–

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दुल्हा-दुल्हिन मिल गए, फीको पड़ी बारात।

तत्कालीन ब्राह्मण समाज के लोला ज्ञान पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं–

चार यूं वेद पढ़ाई करि, हरि सूंन लाया हेत।
बाँलि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत॥

कबीर के अनुसार मनुष्य जन्म से समान है, लेकिन समाज ने उसे रूढियों में जकड़ लिया है तथा भाँति-भाँति की क्यारियाँ गढ़ ली गई है। इस प्रकार एक क्यारी का बिखरा, दूसरी क्यारी में नहीं जा सकता है, इस प्रकार कवि जातिवाद और छुआ-छूत, सबको पाखंड मानते हैं और कहते हैं –

पाड़ोसी सू रुसणां, तिल-तिल सुख की होणि।
पंडित भए सरखगी, पाँणी पीवें छाँणि॥

पंडित सरावगी हो गए हैं और पानी को छान कर पीने लगे हैं, अर्थात् वे ढ़ोंग करते हैं और दूसरे के धर्म की अनावश्यक नुक्ता-चीनी और छान-बीन करते रहते हैं। आपके अनुसार पंडित का गोरख धंधा बटमारी और डकैती है। पंडित ने इस संसार को पाषाण-मूर्तियों से भर दिया है और इसी के आधार पर पैसा कमाता है।

काजल केरि कोठरी, मसिके कर्म कपाट।
पाहनि बोई पृथमी, पंडित पाड़ी बाट॥

कबीर साहब जात-पात की तुलना में कर्म को श्रेष्ट मानते हैं –

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जेकरणी उँच न होई
सोवन कलस सुरै भरया, साधू निंधा सोई॥

अपनी पूरी जिंदगी में कबीर ने सामाजिक कुरीतियों के झाड़-झंखाड़ को साफ करने और उच्चतर मानव का पथ प्रशस्त करने का प्रयास किया।

कबीर साहब का भक्ति में अत्याधिक विश्वास था। भक्ति से युक्त व्यक्ति न तो ब्राह्मण होता है और न चंडाल, बल्कि वह सिर्फ भक्त होता है। कबीर

साहब ने समाज के आपसी मतभेद को मिटाकर इस प्रकार का संदेश दिया है, जैसे हल्दी पीली होती है और चूना श्वेत, पर दोनों मिलकर अपना रंग मिलाकर लाल रंग की होली में परिणत हो जाते हैं –

कबीर हरदी पीयरी, चुना उजल भाय।
राम सनेही यूँ मिले, दन्यूं बस गमाय॥

कबीर की उपर्युक्त रमैनी के अनुसार, राम के भक्त विभिन्न जातियों का परित्याग का एकाकार हो जाते हैं और वे अपने विभिन्न सांप्रदायिक भाव ईश्वर प्रेम की लालिमा में समाहित कर देते हैं। इस प्रकार काबा और काशी या राम और रहीम का भेद मिट जाता है, सब एक ही हो जाते हैं –

कावा फिर काशी भया, राम भया रहीम।
मोठ चून मैदा भया, बैठो कबीरा जीम॥

इस प्रकार कबीर साहब भक्ति के द्वारा सामाजिक पाथेवय को मिटाते हैं और मन के विधान का अतिक्रमण करने का उपदेश देते हैं।

कबीर की भक्ति के सामाजिक प्रभाव

हर युग का साहित्य अपने समय के समाज से प्रभावित होता है। साहित्य या आध्यात्मिक चेतना के लिए समाज-निरपेक्ष होना संभव नहीं है। कबीर की आध्यात्मिक चेतना अथवा उनकी भक्ति की विशेषता यही है कि यह समाज से जुड़ी हुई है। उनकी भक्ति में सामान्य गृहस्थों के लिए भी स्थान है तथा यह भौतिक जगत की भी पूर्णत: उपेक्षा नहीं करती है। उनकी कविता भी इसी कारण से विशिष्ट है। कबीर की कविता निरीह-शोषित जनता के साथ खड़ी होती है, उनका स्वर बनती है तथा शोषक सामंत वर्ग का जोरदार ढंग से विरोध भी करती है।

कबीर की कविता अथवा उनकी भक्ति या साधना-पद्धति की सामाजिक प्रासंगिकता पर विचार करने के क्रम में इस बात पर भी विचार करना होगा कि कबीर की भक्ति किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक कारकों का प्रतिफल है? सामाजिक परिवर्तन में उसकी भूमिका क्या है? तथा समाज के लिए उसकी उपयोगिता क्या है?

कबीर मध्ययुगीन संत कवि है। मध्य-युग हिंदी साहित्य के इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण काल रहा है। मध्ययुग का पूर्वार्द्ध जहाँ भक्ति आंदोलन का काल रहा है वहीँ इसका उत्तरार्द्ध घोर भौतिकवादी मान्यताओं वालें रीति-ग्रंथकारों

का भी काल रहा है। भारत में मध्ययुग सामाजिक उत्तल-पुथल का काल रहा है। शोषक सामंत, निर्धनों और निम्नवर्ग का शोषण कर रहें थें। निम्नवर्ग अथवा स्पष्ट कहें तो निचली जातियाँ एक ओर तो तो सामंती उत्पीड़न से बेहाल थीं तथा दूसरी ओर सामाजिक भेद-भाव से से त्रस्त थीं। जाति-पाति का भेद-भाव अपने चरम पर था। मानवीय मूल्यों का ह्रास होता जा रहा था तथा पाखण्ड और आडम्बर की जड़े तेजी से फैलती जा रहीं थी। कबीर का जन्म ऐसे ही समय में हुआ था।

कबीर निम्न तबके के जुलाहे थें। उन्होंने सामाजिक भेद-भाव का विष-दंश झेल था। जाति प्रथा पर आधारित जन्मगत श्रेष्ठता का प्रचलन तथा श्रेष्ठ गुणों का तिरस्कार आदि उन्होंने स्वयं देखा था। कबीर को ये भेद-भाव स्वीकार नहीं थें, अतः उन्होंने व्यक्ति को जन्म के आधार पर नहीं, कर्मों और गुणों के आधार पर श्रेष्ठ माना है-

'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करों तलवार की पड़ी रहन दो म्यान॥'

कबीर ने निर्गुण भक्ति और शंकर के अद्वैत को अपनाया। इन दोनों के लिए ही काफी उच्च ज्ञान तथा बौद्धिकता अनिवार्य है। कबीर न तो ब्राह्मण थें और नहीं पर्याप्त रूप से शिक्षित ही थें, फिर उन्होंने ऐसा मत क्यों चुना?

कबीर उच्च कोटि के मानवतावादी संत थें। प्रारम्भ में बड़े सरल और भावुक रहे होंगे। उनकी सरलता उनमें बची रही, बाद में उनकी अक्खड़ता-फक्कड़ता के रूप में स्थान्तरित हो गई, क्योंकि जो सरल होता है वही बेबाक होता है, परन्तु उनकी भावुकता के साथ क्या हुआ?

अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में स्वयं आचार्य शुक्ल लिखते है कि रामानंद जी के प्रभाव के कारण उन्हें हिन्दू रीति-रिवाज आकर्षित करते थें-'वे राम-राम जपा करते और कभी-कभी माथे पर तिलक भी लगा लेते थें।'

यह संभव है कि बाल्यावस्था में सगुण भक्ति की ओर इनकी रुचि रही हो परन्तु यदि ऐसा था तो इन्होंने निर्गुण भक्ति क्यों स्वीकार की? रामानंद जी स्वयं सगुणोपासक थे एवं सगुण रामोपासना का उपदेश देते थे।

गंगा तट वाली घटना में भी उन्होंने कबीर से यही कहा था कि 'राम-राम बोल'। उनके इस राम का आशय सगुण राम से था, फिर कबीर की गुरु भक्ति की भावना भी विख्यात है-

'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपनै, गोविन्द दियो बतायछ
'यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान।'

आखिर क्या कारण था कि रामानंद जी के मन्त्र को भी कबीर ने अपनी मान्यता के अनुसार परिवर्तित करके ही स्वीकार किया?

यदि यह संभव है की कबीर सगुण भक्ति तथा हिंदू रीति-रिवाजों (भक्ति की पद्धति) के प्रति आकर्षित थे, तब यह भी संभव है कि उनके कार्यों का यथा नाम जप तथा तिलक लेपन आदि का विरोध हुआ हो। हिंदू-मुस्लिम दोनों ने इसका विरोध किया होगा। बालक कबीर पर इसका क्या प्रभाव पड़ा होगा? हिन्दू मुस्लिम, ऊँच-नीच का भेद-भाव, छुआ-छूत इन सबने कबीर को अंदर से झकझोर दिया। कबीर की भावुकता दब गई तथा उनके स्थान पर भेद-भाव के विरोध के लिए आवश्यक जुझारूपन उनके अंदर विकसित हुआ।

सगुण भक्ति को स्वीकार न करने के दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह की सगुण भक्ति चाहे-अनचाहे ब्राह्मणवादी पौराणिकता, सामंती रूढ़ियों और भेद-भाव का पोषण करती है। मानव-मानव में समानता की जो भावना कबीर चाहतें थे, वह सगुण भक्ति में संभव नहीं थी। दूसरा कारण मेरे अनुसार कहीं न कहीं यह भी हो सकता है कि इस्लामिक संस्कारों और मान्यताओं के अनुसार सगुण भक्ति इनके अनुकूल न थी।

कबीर मानव मात्रा से प्रेम करते थे। इनके लिए सब सामान है, कोई भेद नहीं है। न कोई राजा है, न कोई रंक है, न कोई पंडित है, न कोई मूर्ख, न कोई ब्राह्मण है, न कोई शूद्र, सभी उसी परमब्रह्म के अंश हैं, सभी ब्रह्म हैं।

शंकर के अद्वैत को स्वीकार करने के पीछे इनका यह मानव मात्रा के प्रति प्रेम तथा उनकी समदृष्टि ही कारण था। इस प्रकार इनकी भक्ति साधना और इनके दार्शनिक विचार सब समाज के द्वारा ही उत्प्रेरित थें।

कबीर एक भक्त के साथ ही समाज सुधारक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। समाज सुधार के उनके कार्य या उनकी कविता की सामाजिकता का अध्ययन हम निम्नांकित बिन्दुओं के अंतर्गत करेंगे।

'एकता और समन्वय का प्रयास, जाति-पाति का विरोध-

कबीर का समाज ऊँच-नीच, सवर्ण-कुवर्ण, ब्राह्मण-शूद्र, शोषक-शोषित, हिन्दू-मुसलमान इत्यादि में बँटा था ही' समाज का ईश्वर भी बँटा हुआ था। हिन्दू-मुसलमान में वैमनस्य बढ़ रहा था–

'संतौ देखहु जग बौराना हिन्दू कहे मोहि राम पियारा तुरक कहे रहिमाना।'

तत्कालीन समाज में ईर्ष्या और द्वेष से भरा वातावरण था, परन्तु कबीर को हिंदू और मुसलमान दोनों ही प्यारे थे। ये तो मानव मात्रा से प्रेम करते थे, इनके लिए सब बराबर थें, अत: ये एक ऐसा पंथ बनना चाहते थे, ऐसी साधना पद्धति विकसित करना चाहते थे जिससे हिन्दू और मुसलमान दोनों स्वीकार कर सकें। इसीलिए, इन्होंने निर्गुण भक्ति का आश्रय लिया तथा राम और रहीम को एक बताकर उस एक सच्चे ईश्वर की आराधना का उपदेश दिया जो सबसे ऊपर है, जो परमतत्त्व है, परमात्मा है। सामाजिक भेद-भाव का स्वाद इन्होंने स्वाम चखा था। समाज को तोड़ने वाली इन विभेदकारी रूढ़ियों को ये कभी प्रोत्साहित नहीं कर सकते थे। इन्होंने मानव मात्रा की एकता पर बल दिया-

'एक बून्द एकै मल-मूतर, एक चाम एक गुदा। एक जोति से सब उत्पन्ना, को बाह्मन को सूदा।।'

इन्होंने बताया कि सब उसी राम के अंश हैं, अन्य सभी भेद माया जनित भ्रम हैं तथा जिन लोगों ने अपने आपको श्रेष्ठ घोषित करने का प्रयास किया उन्हें इन्होंने डाँट भी लगाई-

'ऊंचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय। सुबरन कलश सूरा भरा, साधू निंदै सोय।'

'जो तू बाभन बभनी जाया, आन राह तै क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक तुरकनी जाया, भीतर खतना क्यों न कराया।।'

इस प्रकार कबीर ने जनता और जनता के ईश्वर को एक कर सामाजिक एकता को बल प्रदान किया।

माध्यम मार्ग का अनुसरण

कबीर की भक्ति माध्यम मार्गी थी। कबीर न तो शरीर का दमन कर घोर तप करने को कहते है और न ही विषय-वासना आदि में रत रहने को कहते हैं। ये जानते थे की 'यदि शरीर को अधिक कष्ट देकर भगवान का भजन किया गया तो वह अधिक दिनों तक बचेगा नहीं और यदि विषयासक्त होकर भजन किया जाएगा तो मन भजन की और उन्मुख नहीं होगा।' घोर तप साधारण जनता के लिए संभव भी नहीं था। इसीलिए कबीर ने माध्यम मार्ग का उपदेश दिया। ये स्वयं उच्च कोटि के साधक होकर भी अपना पैतृक कर्म करते रहें। इस तरह

इन्होंने न तो धन-संग्रह में ही जी-जान से लग जाने का उपदेश दिया है न ही यही कहा है की घर-बार छोड़ कर निकम्मे फकीर बन जाओ। इनके अनुसार धन का उतना ही संग्रह करना चाहिए जिससे परिवार का पालन-पोषण भी हो जाए तथा घर आया अतिथि भी भूखा न जाए।

'साईं इतना दीजिये जा में कुटुंब समाय।'

आचरण की शुद्धता-कबीर के भक्ति मार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह आचरण की शुद्धता पर बल देता है। कबीर ने सामान्य जनता को सही मार्ग दिखाया। इन्होंने उन्हें बताया कि भक्ति के लिए आचरण की शुद्धता अनिवार्य है। इन्होंने उन्हें सत्य, अहिंसा तथा कर्म का महत्त्व बताया।

'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।'

आचरण की शुद्धता के लिए कबीर ने सद्पुरुषों की संगति को श्रेष्ठतम उपाय बताया है।-

'कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ।'

बाह्य आडम्बरों का विरोध

कबीर एक सीधें और सच्चे साधक थे। सार-सार को ग्रहण कर थोथा उड़ा देना उनका आदर्श था। साधना में बाह्याडम्बरों का इन्होंने जम कर विरोध किया। बाह्याडम्बरों के विरोध में रचित इनके दोहे काफी व्यंगपूर्ण और प्रभावी हैं।

वे निर्गुण भक्त थे। अत: मूर्तिपूजा में उन्हें कोई लाभ दिखता न था। निराकार परमात्मा के स्थान पर पत्थर की मूर्ती उन्हें जँचती न थी। इसीलिए इन्होंने मूर्तिपूजा का जम कर विरोध किया-

'पाथर पूजै हरी मिलै, तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चक्की भली, पीसि खाय संसार।।'

कबीर ने आतंरिक साधना पर बल दिया, माला फेरने और तिलक-कंठी धारण करने को व्यर्थ बताया।

'माला फेरत जुग गया, गया न मनका फेर।
करका मनका डारि दे, मन का मनका फेर।।'

हिन्दुओं की ही भाँति इन्होंने इस्लाम की धार्मिक कट्टरता, बाह्याडम्बरों और रूढ़ियों का प्रबल विरोध किया।

'कांकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई बनाय।
ता छड़ी मुल्ला बांगदे, क्या बाहर हुआ खुदाय।।'

संक्षिप्त निष्कर्ष–संत कबीर के विचार दीर्घकालीन भारतीय चिंतन शृंखला की कड़ी के रूप में सामने आते हैं। कबीर के विचार उपनिषदों, भगवान बुद्ध की मान्यताओं, शंकर के विचारों और मध्कालीन सिद्धों की शिक्षाओं के सार हैं। कबीर की साधना पद्धति, उनकी भक्ति और उनके सामाज सुधार के विचार उस समय भी महत्त्वपूर्ण थें तथा आज भी महत्त्वपूर्ण हैं। आज भी तमाम ऐसे उपकरण हैं, ऐसे व्यर्थ के कार्य हैं जिनका मानव के जीवन में कोई महत्त्व नहीं है, परन्तु मानव है कि अपने जरूरी कार्यों को छोड़ कर उन व्यर्थ के कामों में लगा रहता है। ये कार्य, ये उपकरण और कुछ नहीं माया ही है। हमें इनके बीच ठीक वैसे ही रहना होगा जैसे कबीर घर–गृहस्थी में होने के बाद भी विरक्त हो कर जीते थे। 'उपयोग उतना ही होना चाहिए जितना अनिवार्य हो अधिक की लालसा व्यर्थ है', आज के भौतिकवादी विश्व में कबीर के ये विचार और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। समदृष्टि की जो बात कबीर ने कही थी, उन्होंने जो मानव–मानव के बीच अभेद्य की बात कही थी वह आज के समय में प्रासंगिक है।

रहस्यवाद का अर्थ

काव्य की उस मार्मिक भावभिव्यक्ति को रहस्यवाद कहते हैं, जिसमें एक भावुक कवि अव्यक्त, अगोचर एवं अज्ञात सत्ता के प्रति अपने प्रेमोद्‌गार प्रकट करता है। काव्य की इस भावभिव्यक्ति के बारे में विद्वानों के विविध विचार मिलते हैं। जैसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि–जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यन्त चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है, उसे रहस्यवाद कहते हैं। डॉ0 श्याम सुन्दर दास ने लिखा है कि–चिन्तन के क्षेत्र का ब्रह्मवाद कविता के क्षेत्र में जाकर कल्पना और भावुकता का आधार पाकर रहस्यवाद का रूप पकड़ता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद के अनुसार–रहस्यवाद में अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा अहं का इदं से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है।

सुप्रसिद्ध रहस्यवादी कवयित्री महादेव वर्मा ने–अपनी सीमा को असीम तत्त्व में खो देने को रहस्यवाद कहा है। डॉ. रामकुमार वर्मा का विचार है

कि-रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शान्त और निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है और यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। अतः यह कहा जा सकता है कि रहस्यवाद के अंतर्गत एक कवि उस अज्ञात एवं असीम सत्ता से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता हुआ उसके प्रति अपने ऐसे प्रेमोद्‌गार व्यक्त करता है, जिसमें सुख-दुःख, आनन्द-विषाद, संयोग-वियोग, सदन-हास आदि घुले-मिले रहते हैं और वह अपनी अन्त होने वाली सत्ता को अनन्त सत्ता में विलीन करके एक व्यापक एवं अखण्ड आनन्द का अनुभव किया करता है। कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में विद्वानों की राय कबीर और जायसी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों के मत एक-दूसरे से भिन्न हैं।

कोई कबीर को ही रहस्यवादियों में सर्वश्रेष्ठ मानता है, तो कोई जायसी के रहस्यवाद में ही रमणीयता और सौन्दर्य के दर्शन करता है। कोई कबीर के रहस्यवाद को प्रायः नीरस और शुष्क मानता है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायेगा- डॉ0 श्याम सुन्दर दास के अनुसार–रहस्यवादी कवियों में कबीर का ही आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उनका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार–"कबीर में जो रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं स्मरणीय और सुन्दर रहस्यवाद है तो जायसी, जिनकी भावुकता बहुत ही उच्चकोटि की है। वे सूफियों की भक्ति भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूप-माधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों को पुरुष के समागम हेतु प्रकृति के शृंगार, उत्कंठा या विरह-विकलता के रूप में अनुभव करते हैं।"

डॉ0 चन्द्रबली पाण्डेय के अनुसार-कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। कबीर और जायसी-दोनों ही हिन्दी साहित्य के सुन्दर रहस्यवादी कलाकार हैं। दोनों ने अपनी-अपनी भावना रूपी बंधुओं की झाँकी अपने-अपने ढंग पर सँवारी है। वे दोनों बंधुएँ रहस्यात्मकता की दृष्टि से समान होते हुए भी आत्मा की दृष्टि से एक-दूसरे

से सर्वथा भिन्न हैं। कबीर की रहस्यात्मकता भारतीय हठयोग और औपनिषदिक विचारधारा के सुहाग से सम्भूत होने के कारण पूर्ण भारतीय हैं। यह बात दूसरी है कि उस पर चलते-चलते थोड़ा बहुत प्रभाव सूफी साधना का भी पड़ गया हो। किन्तु उसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और निष्ठाएँ ठीक उसी प्रकार की हैं, जैसी आदर्श भारतीय बंधुओं में पायी जाती है। अभारतीय सूफी-साधना और भारतीय अद्वैतवाद के संयोग से उत्पन्न उनकी (जायसी की) रहस्य-भावना कुछ बातों में भारतीय और कुछ बातों में अभारतीय है। तुलनात्मक विवेचन जायसी और कबीर के रहस्यवाद को पूर्ण रूप से देखने के लिए उनकी प्रकृति को समझना आवश्यक है। सभी रहस्यवादी कवियों के काव्यों में प्रायः ये सात अवस्थाएँ पायी जाती हैं–1. जिज्ञासा, 2. महत्त्वदर्शन, 3. प्रयत्न, 4. विन एवं वेदना, 5. आभास, 6. अपरोक्ष अनुभूति और 7. चिरमिलन।

डॉ0 रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है–प्रथम–स्थिति में आत्मा, परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने के लिए अग्रसर होती है, द्वितीय-स्थिति में आत्मा, परमात्मा से प्रेम करने लगती है और तृतीय–स्थिति में आत्मा और परमात्मा का पूर्ण मिलन अथवा एकीकरण हो जाता है।अब तक कबीर और जायसी के रहस्यवाद की तुलनात्मक विवेचना करने वाले विद्वानों ने केवल नीरसता और माधुर्य की तुलना की है। कुछ विद्वान इस तथाकथित अन्तर का जायसी में प्रकृति के प्रति रुझान और कबीर में प्रकृति की उपेक्षा को माना है। विद्वानों ने जायसी के रहस्यवाद के पाँच प्रकार माने हैं–1. आध्यात्मिक रहस्यवाद 2. प्रकृति-मूलक रहस्यवाद 3. प्रेम मूलक रहस्यवाद 4. भौतिक रहस्यवाद तथा 5. अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद इन रहस्यवादों में से प्रकृति मूलक रहस्यवाद को छोड़कर शेष सबका वर्णन कबीर के रहस्यवाद में मिलता है। कबीर ने प्रकृति मूलक रहस्यवाद को नहीं अपनाया है। इसका कारण यह है कि कबीर में जहाँ प्रकृति अपने मिथ्यात्व के कारण तिरस्कृत है, वहाँ जायसी में वही परमात्मा के झलक का साधन बन गई है। कबीर में आत्मा और परमात्मा के सौन्दर्य का प्रकाश होने के कारण प्रकृति स्वयं परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित हो गई है। जायसी के रहस्यवाद की सबसे बड़ी विशेषता उनकी प्रेम की पीर है। इसी प्रेम-तत्त्व के कारण उनका रहस्यवाद मधुर से मधुरतम बन गया है और इसी कारण उसमें विलास की झाँकिया मिलती हैं।

जायसी का रहस्यवाद सर्वत्र समष्टिमूलक के रूप में प्रस्तुत हुआ है। सूफीमत और इस्लाम के प्रति पूर्ण आस्था रखने के कारण कहीं-कहीं उनका रहस्यवाद सूफी सिद्धान्तों से पूर्ण रूप से प्रभावित मिलता है। इसके अतिरिक्त समष्टिमूलक दृष्टिकोण होने के कारण उनके रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः अन्योक्ति और समासोक्ति द्वारा हुई है। इसी कारण वह बहुत सांकेतिक और व्यंजनात्मक हो गया है। रहस्यवादी के लिए आस्तिक होना पहली शर्त है। कबीर पूर्ण आस्तिक हैं। उन्होंने नास्तिकों के शून्य को भी ब्रह्म बना दिया है, परन्तु उनकी आस्तिकता परम्परा विश्वासों पर आधारित न होकर प्रत्यक्षानुभूति पर आश्रित है-देख्या है तो कस कहूँ, कहै तो को पतियाय। गूँगे केरी सरकरा, खाये औ बैठा मुस्काय 11जायसी भी पूर्ण आस्तिक हैं, लेकिन उनकी आस्तिकता कबीर से भिन्न है। इस्लाम में प्रत्यक्षानुभूति पर विश्वास न कर इमान पर किया जाता है। इस कारण उनमें भावना और कल्पना का प्राधान्य है–निमिख न लाग कर ओहि सबइ कीन्ह पल एक। गगन अंतरिख राखा बाज खंभ बिन्दु टेक। उपास्य के मामले में दोनों के ही उपास्य सगुण और निर्गुण के समन्वित रूप वाले है। परन्तु जायसी की प्रेम-भावना समष्टिमूलक है, इसलिए वे अपने आराध्य का चिन्तन एक विराट सौन्दर्यमयी सत्ता के रूप में करते हैं। कबीर की भावना व्यष्टिमूलक है, इसलिए उसमें उस विराट सौन्दर्य के दर्शन नहीं होते। जायसी उसके सौन्दर्य वर्णन के लिए बाह्य साधनों का खुलकर उपयोग करते हैं, जबकि कबीर में बाह्य साधनों की अपेक्षाकृत न्यूनता है।

जायसी पद्मावती के सौन्दर्य में उसी विराट सौन्दर्य का प्रतिरूप देखते हैं–नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर। हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगहीर। कबीर का ब्रह्म सुनि मण्डल बासी है-कोई ऐसा न मिले, सब विधि देहि बताय। सुनि मण्डल में पुरुष एक, ताही रहै ल्यौं लाय। दोनों ही तत्त्व रूप में ब्रह्म के उपासक हैं। दोनों ही शून्यवादी हैं। दोनों के उपास्य सौन्दर्य रूप हैं, किन्तु जायसी की सम्पूर्ण दृष्टि उसी आध्यात्मिक दिव्य सौन्दर्य से ओत-प्रोत है। उनका लक्ष्य सौन्दर्य की प्राप्ति है। इसके विपरीत कबीर के पास अपने आराध्य के सौन्दर्य को व्यक्त करने के साधन नहीं हैं। वे उसे केवल प्रकाश-स्वरूप कहकर ही संतोष कर लेते हैं। यदि उन्होंने कहीं प्रयत्न भी किया है तो उसमें जायसी का-सा भावात्मक सरस

एवं ग्राह्य सौन्दर्य नहीं आ पाया है।ब्रह्म की अनुभूति के विषय में दोनों समान विश्वास करते हैं। परन्तु कबीर-औपे आप चिनारिया, तब केत होय आनन्द रे। कहकर उसे विचार प्रधान बना देते हैं। जायसी-आप पिछौनें आपै आप "कहकर उसे भावना-प्रधान बना देते हैं। इस अनुभूति के लिए कबीर का विश्वास है कि–कुछ करनी कुछ करमगति, कछू पूरबला लेख।" की सहायता से ही उस आलेख की अनुभूति की जा सकती है। इसके विपरीत जायसी–न जानौ कौन पौन लइे पाया। कहकर केवल आराध्य की कृपा पर ही विश्वास करते हैं।

कबीर और जायसी दोनों ने ही प्रेम रूपी अमृत का पान किया है, परन्तु जायसी के प्रेम में मादकता, कोमलता और भावुकता का प्राधान्य है। उनके अनुसार–प्रेम फाँद जो परा न छूटा। जिउ जाइ पै फाँद न टूटा। यह प्रेम की अग्नि बड़ी भयानक है, जो सारी सृष्टि में व्याप्त है। वह विरही और वह हृदय धन्य है, जिसमें यह समा जाती है–मुहम्मद चिनगी प्रेम की, सुनि महि गगन डराय। धनि बिरही और धनि हिया, जहै अस अगिनि समाय। विरह और मिलन के वर्णन में दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। दोनों पर कुछ हद तक सूफी काव्य परम्परा का प्रभाव पड़ा है। दोनों को ही अपने प्रियतम का पता गुरु द्वारा मिलता है। कबीर को यह प्रेमतत्त्व के रूप में तथा जायसी को विरह-तत्त्व के रूप में प्राप्त होता है। कबीर को-गुरु ने प्रेम का अंग पढ़ाय दिया रे तथा जायसी को गुरु बिरह चिनङ्गी जो मेला। सो सुलगाई लेइ जो चेला। जायसी का प्रेम रूप-लिप्सा जनित है और कबीर का संस्कार-मूलक। यही कारण है कि सूफियों के प्रेम में अलौकिक भक्ति के साथ-साथ लौकिक रति को भी महत्त्व मिला है। जायसी का सम्पूर्ण काव्य सौन्दर्य और प्रेम की भावना से विभोर है। इस लौकिक सौन्दर्य और रति के कारण ही जायसी के रहस्यवाद में मादकता एवं विकास का पुट अत्यंत गहरा हो गया है। कबीर में इस प्रकार के वर्णन का अभाव है। जायसी और कबीर के प्रेम में विरह और मिलन के कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं–विरह-सब रग तंत रबान तन, विरह बजावै नित्त और न कोई सुनि सकै, कै साँई के चित्त। रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख। धनि सारस होई ररि मुई आइ समेटहु पंख। मिलन-कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई। भा निरमर तेन्ह पायन परसें। पावा रूप रूप के दरसें। मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपन बुझाईन जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा मैं पाप गँवावा। हरि संगति

सीतल भया, मिटी मोह की ताप। निज बासुरि सुख निधि लघ्या, जब अन्तर प्रगट्या आप आध्यात्मिक अनुभूति डॉ0 त्रिगुणायत के अनुसार कुमारी अण्डरहिल नामक अंग्रेज महिला ने इस अनुभूति की पाँच अवस्थाएँ मानी हैं– 1. आत्मा की जाग्रतावस्था–इसमें ब्रह्म-जिज्ञासा उत्पन्न होती है और साधक ज्ञान और वैराग्य की ओर उन्मुख होने लगता है। 2. आत्मा के परिष्करण की स्थिति–इसमें साधक विविध प्रकार की साधनाओं में लग जाता है। 3. आत्मा की आंशिक अनुभूति की स्थिति–साधक इसमें विविध ध्वनियाँ सुनता है और विविध दृश्य देखता है। 4. रहस्यानुभूति के विनों की अवस्था-इसमें ईश्वरानुभूति में बाधाएँ पड़ने लगती है। 5. तादात्म्क की स्थिति–यह आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार और तादात्म्य की स्थिति है। उपर्युक्त सभी स्थितियों का वर्णन सूफी तो बड़े विस्तार से करते हैं, किन्तु कबीर ने उनका वर्णन समान रूप से किया है। पहली स्थिति जो जाग्रतावस्था कहलाती है, में कबीर और जायसी ने गहरी जिज्ञासा और मिलन के लिए व्याकुलता दिखाई है। जायसी का रत्नसेन जब अपनी प्रियतमा के दिव्य सौन्दर्य की तन्मयता से जागता है तो सारा संसार उसे नीरस लगने लगता है और उसमें वैराग्य भावना उत्पन्न हो जाती है–जब भा चेत उठा बैरागा (जायसी)कबीर वैराग्य को महत्त्व नहीं देते। उनके लिए ज्ञान ही सब कुछ है–कबीर जाग्याहि चाहिए, क्या घर क्या वैराग।

(कबीर)साधना की दूसरी अवस्था में साधक विरह से व्यथित होने के साथ ही आराध्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने लगता है। कबीर के विरह वर्णन में सूफी और भक्त दोनों पद्धतियों का प्रभाव है। भक्तों से प्रभावित होकर वे-जिन पर गोविन्द बीछुड़े, तिनको कौन हवाल। कहने लगते हैं और सूफियों का अनुसरण करते हुए कहते हैं–अंषड़िया झांई पड़ी, पंथ निहारि निहारि। जीभड़िया छाला पड़या, राम पुकारि पुकारि। जायसी ने कबीर की यौगिक साधना की तरह सूफी-साधना अपनाई है। इसमें अपना कल्ब (हृदय) शुद्ध करके रूह को विकसित करना पड़ता है। इस शुद्धि के लिए साधक को सात मुकामात से होकर गुजरना पड़ता है। साथ ही उसे ईश्वर स्मरण और जप आदि भी करना पड़ता है। ये हालात कहलाते हैं। इस प्रकार साधक शुद्धाचरण आदि की सहायता से अपने शरीर और मन की शुद्धि कर साधना के मार्ग पर आगे बढ़ता है। इस मार्ग पर चार पड़ाव पड़ते है-शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारफत। अन्तिम अवस्था हाल अर्थात् भावातिरेक की चरम अवस्था होती

है और यहीं आकर रूह फना होकर आराध्य से जा मिलती है।जायसी में उपर्युक्त सम्पूर्ण अवस्थाओं के चित्रण मिलते हैं। उन्होंने प्रियतमा की प्राप्ति–चार बसेरे सों चढैं, सत सों उतरे पार कहकर इसी सूफी साधना पद्धति का पालन किया है। जबकि कबीर ज्ञान, वैराग्य और योग द्वारा आत्म–परिष्करण कर भक्ति में तन्मय हो साक्षात्कार करना चाहते हैं। इसके लिए उन्होंने स्थान–स्थान पर–जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है जैसे सिद्धान्त, वाक्य कहकर ज्ञान को प्रधानता दी है।साधना की तीसरी अवस्था में साधक को आराध्य की झलक–सी मिल जाती है। कबीर इस स्थिति का आभास पाकर हर्ष से उन्मत्त हो उठते हैं। यथा–जरा मरण व्यापै नहीं, युवा न सुनिये कोय। चलि कबीर तेहि देसिडे, जहँ वैद विधाता होय। इस वर्णन में तीव्रता तो है, मगर सरसता और कोमलता की रमणीयता नहीं आ पाई है। जायसी के ऐसे वर्णनों में पर्याप्त सरसता और माधुर्य है। प्रियतम की झलक का वर्णन करने के उपरांत जायसी उस लोक का चित्रण करते हैं–जहाँ न राति न दिवस है, जहाँ न पौन न पानि। तेहि बन सुअटा चल बसा, कौन मिलावै आनि। चौथी अवस्था विन की अवस्था है। साधक के मार्ग में अनेक विन बाधाएँ उत्पन्न होती हैं। कबीर इन बाधाओं को माया का रूप देते हैं। माया ठगिनी का रूप धारण कर अनेक विन बाधाएँ उत्पन्न करती है। इसी प्रकार जायसी ने भी अपने नायक के मार्ग में पड़ने वाली विविध कठिनाईयों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है, परन्तु जायसी ने कबीर के समान माया के विभिन्न जालों द्वारा उत्पन्न कठिनाईयों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है। साधक की अंतिम स्थिति मिलन की अवस्था है। मिलन होने पर साधक पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

कबीर आराध्य से मिलन मात्रा की कल्पना से काँप उठते हैं। जायसी ने मिलन से पूर्व की इस रोमांचित अवस्था का चित्रण ऐसा ही किया है, किन्तु उसमें लौकिकता का प्राधान्य है। जायसी के इस वर्णन में रमणीयता है, एक अलौकिक आनन्द है। इसकी तुलना में कबीर का वर्णन शुष्क और नीरस है। इसका कारण यह है कि कबीर उपनिषदों से प्रभावित हैं, जबकि जायसी सूफी सौन्दर्यवाद और प्रतिबिम्बवाद से प्रभावित है। पूर्ण मिलन ही दोनों साधकों की साधना की पूर्ण स्थिति है। इस स्थिति के परिणाम स्वरूप कबीर तो पूर्ण रूप से जीवन मुक्त हो जाते हैं और अमर हो जाते हैं–हम न मरे मरिहैं संसार, हमकू मिले जियावन हारा। रहस्यवाद एक आध्यात्मिक अनुभूति का परिणाम है, अतः इसकी अभिव्यक्ति साधारण रूप से नहीं हो सकती। कबीर और

जायसी दोनों ने इसकी अभिव्यक्ति अलग अलग ढंग से की है। कबीर ने प्रतीक-पद्धति, रूपक पद्धति तथा उलटबाँसियों की सहायता से अपने रहस्यवाद की अभिव्यक्ति की है तो जायसी ने अपनी स्वानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए प्रेम-कथा का सहारा लेकर उसमें असफल अन्योक्ति और सफल समासोक्ति का प्रयोग किया हैं। साथ ही उन्होंने प्रतीक पद्धति को भी अपनाया है।

अत: कहा जा सकता है कि जायसी और कबीर हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ रहस्यवादी कवि हैं। एक (कबीर) का रहस्यवाद आध्यात्मिक, एकान्तिक व्यष्टिमूलक, सजीव और वर्णनात्मक है, तो दूसरे (जायसी) का सरस, संकेतात्मक और समष्टिमूलक है।

3

तुलसीदास के काव्य

गोस्वामी तुलसीदास भक्तिकाल की सगुण भक्ति धारा की रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं। तुलसी बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि थे। पूर्व मध्यकाल में मुख्य रूप से काव्य रचना की दो शैलियाँ प्रचलित थीं–प्रबंध और मुक्तक। तुलसी ने दोनों काव्य रूपों में रचना की। तुलसी ने मानस की रचना प्रबंध-शैली में की है और विनयपत्रिका, गीतावली, कृष्णगीतावली और कवितावली आदि की रचना मुक्तक–शैली में की है। गोस्वामी तुलसीदास के बारह ग्रन्थ प्रसिद्ध माने जाते हैं–रामचरितमानस, दोहावली, कवितावली, गीतावली, विनय पत्रिका, रामलला नहछू, पार्ववती मंगल, जनकी मंगल, बरवैरामायण, वैराग्य संदीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा प्रश्नावली आदि।

कवि के पास भाषा एक ऐसा माध्यम होती है जिसके द्वारा कवि अपने प्रतिपाद्य को शब्दायित करके पाठकों से तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ हो पाता है। काव्य में शब्द और अर्थ का समन्वय। शब्द-शक्ति को उभारता है। जिससे कवि कर्म प्रभावी होकर पाठक समूह तक पहुचता है। शब्द संतुलन ही तुलसी के काव्य की विशेषता है। इसी विशेषता के कारण तुलसी के काव्य के अंतर बाह्य पक्ष अर्थात् अलंकार, चित्रात्मकता, गुण–व्रति इत्यादि विशेषताओं को मुखर बनाता है। तुलसी के समय लोक की भाषा में काव्य रचना का सम्मान उस समय के पंडित वर्ग में नहीं था। तुलसी ने पंडित वर्ग को साधते हुए। लोक भाषा को अपने काव्य का आधार बनाया। यद्यपि संस्कृत की उपेक्षा

उन्होंने नहीं की। इसीलिए मानस, विनयपत्रिका आदि में अनेक 'लोक संस्कृत में हैं। सामर्थ्य होते हुए भी तुलसी ने काव्य भाषा के लिए लोकव्यवहार की भाषा को ही चुना। तुलसी पर जन दबाव भी हो सकता है। क्योंकि संस्कृत भाषा का लोक में महत्त्व नगण्य था। हाँ पुरोहित वर्ग में जरूर था। यही कारण है कि मध्यकाल में जनभाषा में रचना करने वाला कवि जितना सफल हुआ उतना संस्कृत में रचना करने वाला नहीं। क्योंकि संस्कृत को जनसमर्थन नहीं मिला था। इसीलिय तुलसी ने 'गिरा ग्राम्य' भाषा को ज्यादा महत्त्व दिया। तुलसी का लक्ष्य लोक संग्रह था। मध्यकाल में तुलसी के समय तक काव्य भाषा के रूप में अवधी और ब्रजभाषा का प्रचलन था। तुलसी ने दोनों में काव्य रचना की। तुलसी की काव्य भाषा के सम्बन्ध में शुक्ल जी ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है–"सबसे बड़ी विशेषता गोस्वामी जी की है भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषता जो हिंदी के और किसी कवि में नहीं पाई जाती। गठी हुई भाषा और किसी की नहीं है। सारी रचनाएँ इस बात का उदाहरण हैं।" तुलसी ने मानस में रामकथा अवधी में कही है। कवितावली, गीतावली और विनयपत्रिका की रचना ब्रजभाषा में की।

कवितावली की भाषा में तुलसी ने लोक में प्रचलित मुहावरों, लोकोक्तियों और देशज शब्दों का प्रयोग किया है। लोक में प्रचलित ब्रजभाषा का प्रयोग मिलता है। कवितावली में तत्सम, तद्भव और देशज शब्दों का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। कविता वाली में डिंगल भाषा का भी प्रयोग मिलता है–

"डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बै समुद्र–सर। . .
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर।।

बालकाण्ड–11

तुलसी की प्रवृति रही है उन्होंने देसी–विदेशी भाषाओं के शब्दों का अपने काव्य में भरपूर उपयोग किया है। जिससे उनकी अभिव्यक्ति सशक्त हो सकी। तुलसी कवितावली में अरबी–फारसी भाषा के शब्दों का बखूबी प्रयोग करते हैं। जैसे अरबी के गुलाम, हराम, जाहिल आदि और फारसी के दिल, दाम आदि। कवितावली के उत्तरकाण्ड में अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुतायत हुआ है जैसे–दगाबाज, गरीब, गुलाम, उम्रिदाराज, मसीत, निबाह, साहबी, मरद, खजाना आदि।

राम गरीबनेवाज भए हौ गरीबनेवाज गरीब नेव्वाजी।

उत्तरकाण्ड-95

कवितावली की भाषा में मुहावरे और लोकोक्तियों का भी प्रयोग मिलता है। जैसे–धोबी कौ सो कूकर, न घर को न घाट को। भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, क्रिया, गुण आदि को हृदयगम्य बनाने में जब भाषा और उसकी शब्द शक्तियाँ जबाब दे जाती हैं। तब कवि अप्रस्तुत विधान की ओर उन्मुख होता है। इसे अलंकार विधान की संज्ञा भी दी जाती है। विभिन्न अलंकार वस्तुत:कथन की विभिन्न शैलियाँ हैं। शैली से तात्पर्य कथन प्रणाली या पद्धति से है। शब्दों की अर्थ सम्पदा को अक्षम मानकर जब कवि अप्रस्तुत विधान की ओर उन्मुख होता है तो वह भाषा से इतर मार्ग को ग्रहण करता है। अलंकार की दृष्टी से कवितावली महत्त्वपूर्ण रचना है। कवितावली में अलंकारों की सीमा को उन्होंने अच्छी तरह पहचाना है। उन्होंने अधिकांशत: भाव, क्रिया, रूप, गुण आदि का उत्कर्ष दिखाने के लिए ही अलंकारों का प्रयोग किया है, मात्रा चमत्कार प्रदर्शन के लिए नहीं। अलंकारों में रमणीयता का गुण होना चाहिए। काव्य में अलंकार की स्थिति और उसके स्वरूप का विवेचन करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है-"वह कथन की एक युक्ति या वर्णन शैली मात्रा है। वह वर्णन शैली सर्वत्र काव्यालंकार नहीं कहला सकती। उपमा को ही लीजिये जिसका आधार होता है सादृश्य। यदि कहीं सादृश्य योजना का उद्देश्य बोध कराना मात्रा है तो वह काव्यालंकार नहीं है।" शुक्ल जी के अनुसार तुलसी के यहाँ अलंकारों का प्रयोग निम्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए हुआ है–"भावों की उत्कर्ष व्यंजना में सहायक, वस्तुओं के रूप सौन्दर्य, भीषणत्व आदि का अनुभव तीव्र करने में सहायक। गुण का अनुभव तीव्र करने में सहायक। क्रिया का अनुभव तीव्र करने में सहायक।" कवितावली में प्रयुक्त अलंकारों का विवेचन इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर किया जायेगा। कवितावली में तुलसी ने भावों की रमणीय अभिव्यक्ति अनुप्रास अलंकार के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है। जिसमें सीता की थकान राम समझते हैं जैसे–

पुरतें निकसी रघुवीर वधू,
धरि धीर दए मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की,
पुट सूख गए मधुराधर वै।
फिर बूझति हैं चलनो अब केतिक,

पर्णकुटी करि हौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पिय की,
अंखिया अति चारू चलीं जल च्वै।

अयोध्याकाण्ड-11

रूप का अनुभव मुख्यत: चार प्रकार से होता है अनुरंजक, भयावह, आश्चर्यजनक या घृणा उत्पादक। यहाँ बिम्ब प्रतिबिम्ब का होना आवश्यक है। जैसे

बालधी बिसाल विकराल ज्वाल लाल मानौ,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम वीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
वीररस वीर तरवारि सी उघारी है।

सुन्दरकाण्ड-5

इसमें उत्प्रेक्षा और संदेह का व्यवहार किया गया है। इधर-उधर घूमती हुई जलती हुई पूँछ तथा काल की जीभ और तलवार में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव (रूप सादृश्य) भी है तथा संहार करने और दाह करने में वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म भी है। इस दृष्टि से यह गुण का अनुभव कराने में भी सहायक है। क्रिया का तीव्र अनुभव कराने के लिए कवितावली में तुलसी ने अनुप्रास की योजना की है। जैसे–?

छोनी में के छोनीपति,
छाजै जिन्हें छत्रछाया।

छोनी-छोनी छाए,
छिति आए निमिराज के।

बालकाण्ड-8

तुलसीदास को रूपक अलंकार का बादशाह कहा जाता है। कवितावली में उन्होंने सांगरूपक का सुन्दर प्रयोग किया है किया है। उदहारण के लिए–

तुलसी तेहि औसर सोहैं सवै अवलोकति लोचनलाहू अलीं। अनुराग-तड़ाग में भानु उदें बिगसी मानो मंजुल कंजकली।

अयोध्याकाण्ड-22

कवितावली एक व्यंग्य काव्य है। जिसकी भाषा व्यंजना शक्ति से संपन्न है। कवितावली के व्यंग्य का सौन्दर्य और सामर्थ्य उसे एक महत्त्वपूर्ण कृति साबित करता है। कवितावली में व्यंग्य ध्वनि का प्रयोग सर्वत्र देखा जा सकता है। अभिधात्मक अर्थ की अपेक्षा संकेतित अर्थ अधिक रमणीय प्रतीत होता है। जहाँ कठिन प्रसंग आये अथवा अंतरद्वंद उपस्थित हुआ तुलसी वहां व्यंग्य से ही काम लेते हैं। व्यंग्य के रूप में संचारी भावों की निबंधना कवितावली में देखने लायक है–

पुरतें निकसी रघुवीर वधु, धरि धीर दए मग में डग द्वै। झलकी भरि भाल कनी जल की, पुट सूख गए मधुराधर वै।

फिरि बूझति हैं चलनों अब केतिक, पर्णकुटी करि हौ कित है? तिय की लख आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारू चली जल च्वै।

अयोध्याकाण्ड-11

भाषा और अलंकार की भांति तुलसी ने छंद को भी काव्य का अनिवार्य उपकरण माना है। मानस के मंगलाचरण में उन्होंने "वर्णनां अर्थसंधानां रसानाम" के साथ 'छंद सामपि' का उल्लेख कर, छंद को काव्य का अनिवार्य अंग माना है। तुलसी ने काव्य के अनुरूप छंद का प्रयोग किया है। कवितावली मुक्तकों का संग्रह है। तुलसी के पूर्व कविता के लिए अनेक पद्धतियां प्रचलित थीं। इन्होंने सभी पद्धतियों में रामकथा का गुणगान किया है। "वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीत पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्ध कबीरदास की नीति सम्बन्धी बानी की दोहा पद्धति, ईश्वरदास के दोहे-चौपाई वाली प्रबंध पद्धति आदि।" ये पांच मुख्य शैलियाँ उस वक्त प्रचलितं थीं। इनके साथ ब्रज और अवधी दो भाषाओं का व्यवहार होता था। तुलसी ने इन्हीं पांच शैलियों और दो भाषाओं को लेकर काव्य रचना की। कहीं-कहीं संस्कृत का भी प्रयोग किया है। चारणों और भाटों वाली कवित्त एवं छप्पय वाली शैली में उन्होंने कवितावली की रचना की है। कवितावली एक मुक्तक काव्य है। कवितावली के मुक्तक काव्य होने के कुछ प्रमाण मिलते हैं। प्रबंध के अनुसार कवितावली में नियमानुसार मंगलाचरण नहीं है। तुलसी ने मानस के प्रत्येक काण्ड में मंगलाचरण दिया है, किन्तु कवितावली के आरंभ में मंगलाचरण

का एक ही छंद है। यह रचना प्रबंध रूप में नहीं मुक्तक रूप में है। कथा में भी एक सूत्रता नहीं है। मुक्तक काव्य के स्वरूप स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी ने कहा है–"मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं होती। जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है। सहृदय में एक स्थायी प्रभाव गृहीत रहता है। इससे तो रस के छींटे पड़ते हैं। जिससे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल उठती है। यदि प्रबंध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है, तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता।"

मुक्तक स्वतंत्र होते हुए भी अपने आप में स्वत: पूर्ण होते हैं। कवितावली का प्रत्येक छंद स्वतंत्र होते हुए भी अपने-आप में पूर्ण एवं भावाभिव्यंजन में पूर्णत: सफल है। छंदों की रमणीयता के लिए तुलसी ने भावों के अनुकूल छंदों का सन्निवेश किया है तथा लय और अन्त्यानुप्रास का ध्यान रखा है। वीरगाथा काल की चारणों की छप्पय शैली में कवितावली के छंदों की रचना की। छप्पय मात्रिक छंद है। छप्पय छ: पंक्तियों वाला छंद है, जो रोला और उल्लाला के संयोग से बनता है। रोला में 24 मात्राएं होती हैं तथा 11 और 13 पर यति हुआ करती है। छप्पय में पहली चार पंक्तियाँ रोला की रखी जातीं हैं और अंतिम दो पंक्तियाँ उल्लाला की रखी जातीं हैं।उल्लाला में 15 और 13 पर यति होती है। कवितावली में छप्पय का प्रयोग कवि ने भाषा व भाव के अनुरूप किया है। जिसमें कवि की निपुणता झलकती है। जैसे

डिगतिउर्विअतिगुर्वि, सर्वपब्बैसमुद्रसर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल राचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिमभानु, संघटित होत परस्पर॥

चौंके विरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रम्हांड खण्ड कियो चडधुनि, जबहिंराम सिवधनु दल्यौ॥

बालकाण्ड-11

भाटों की कवित्त–सवैया शैली का भी प्रयोग कवितावली में रामकथा कहने के लिए तुलसी ने किया है। कवित्त को घनाक्षरी और मनहरण के नाम से भी जाना जाता है। इसमें 31वर्ण होते हैं 16 व 15 पर यति हुआ करती है।

अंत में गुरु वर्ण का होना आवश्यक है। सवैया भी वार्णिक छंद है। वर्णों के आधार पर इसका निर्णय किया जाता है। मत्तगयन्द, दुर्मिल आदि इसके भेद हैं। कवितावली में नाना रसों का समावेश अत्यंत विसद रूप में मिलता। कवितावली में रासानुकूल शब्द योजना बड़ी सुंदर है। जो तुलसी ऐसी कोमल भाषा का प्रयोग करते हैं–

राम को रूप निहारत जानकि, कंकन के नगकी परछाहीं। . याते सबै सुधि भूलि गई, कर टेक रही, पल टारति नाहीं।।

बालकाण्ड–17

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग में ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते हैं–

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहुदंड बीर, धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरिकै। महाबल पुंज कुंजरारि क्यों गरजि भट, जहाँ तहां पटके लंगूर फेरि फेरिकै।। . मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात, कहैं तुलसी 'राखि राम की सौं' टेरिकै। ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठै, हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरिकै।।

बालकाण्ड–8

छप्पय, कवित्त, झूलना और सवैया के अतिरिक्त तुलसी ने संवाद शैली का बड़ी निपुणता से प्रयोग किया है। तुलसी के संवादों में नाटकीयता का सुंदर सन्निवेश हुआ है। लक्ष्मण के संवादों में वग्विदगता तथा नाटकीयता का सुंदर समन्वय हुआ है। केवट प्रसंग, रावण और अंगद संवाद, मंदोदरी संवाद और ग्राम वधुओं से संवाद में सजीवता रोचकता और स्वाभाविकता देखने लायक होती है, जो पाठक को सम्मोहित करती है। जैसे–

पूँछत ग्रामबधू सिय सों, कहौ, सांवरे–से सखि! रावरे को हैं। सुनि सुंदर बैन सुधारस–साने सयानि हैं जानकी जानी भली।

तिरछे करि नैन, दे सैन तिन्हें समुझाइ कछू मुसुकाइ चली।

अयोध्याकाण्ड–22–23

कवितावली में गुण, रीति और व्रतियों का सुन्दर प्रयोग मिलता है। उपनागरिका वृति अत्यंत मधुर और कोमल वर्ण योजना में झलकती है। इसमें

माधुर्य गुण भी रहता है। कवितावली में अनेक स्थलों पर माधुर्य गुण मिलता है। बालकाण्ड के प्रारंभिक पदों अयोध्याकाण्ड में माधुर्य गुण विशेष रूप से देखा जा सकता है। शृंगार रस के प्रसंगों में तो अनेक बार माधुर्य गुण का सहज समावेश मिलता है। कई स्थलों पर गतिशील सौन्दर्य–वर्णन भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण है। जैसे–

दूलहश्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुंदर मंदिर माहीं।
गावतिगीत सबै मिलि सुंदरि बेद जुवा जुरिबिप्र पढ़ाहीं।।

बालकाण्ड 17

परुषावृति कठोर वर्ण योजना में अन्तर्निहित होती है। यह ओज गुण संपन्न होती है। जहाँ–जहाँ रौद्र, वीर और भयानक रसों का वर्णन हो वहां सहज हीं ओज गुण का समावेश हो जाता है। सुन्दरकाण्ड के लंकादहन प्रसंग में अधिक हुआ है–

कैंधों व्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु।
वीररस बीर तरवारि सो उघारी है।

सुन्दरकाण्ड–5

कोमलवृति में न कठोर, न कोमल वर्णों की योजना होती है। उसमें प्रसाद गुण निहित है। कुछ स्थलों को छोड़कर कवितावली में सर्वत्र ही प्रसाद गुण को देखा जा सकता है।

तुलसी की काव्य कला के सम्बन्ध में रामचंद्र तिवारी ने लिखा है कि–"उन्हें काव्य शास्त्र के विविध अंगों का पूर्ण ज्ञान था किन्तु इनका प्रदर्शन उनका ध्येय नहीं था। उन्होंने वर्ण्य-विषय को दृष्टि में रखकर उसके अनुकूल ही छंदों का प्रयोग किया है। उनका एक मात्रा उद्देश्य अभिव्यक्ति की पूर्णता है।भाषा, शैली, छंद, गुण, रीति, अलंकार, उक्ति–वैचित्र्य ये सभी उसकी पूर्णता में सहायक हैं।"

4

सूरदास का काव्य

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अपने विचारों को दूसरे तक पहुँचाना चाहता है और दूसरों के विचारों को जानने की जिज्ञासा रखता है। भावों-विचारों के आदान-प्रदान के क्रम ही एक-दूसरे के प्रति लगाव का भाव उत्पन्न करते हैं। यह लगाव ही परिवर्द्धित होकर प्रेम की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रेम मानव जीवन का मूलाधार है। प्रेम एक भावात्मक अनुभूति है जिसे शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त कर पाना संभव नहीं है। यह आंतरिक अनुभूति है। मानव का अस्तित्त्व प्रेमाश्रित है। प्रेम-भावना मानवीय हृदय तक सीमित न रहकर सृष्टि के काण-कण में व्याप्त है, जिसका अनुभव आत्मिक होता है।

'प्रेम' शब्द की व्यापकता को स्पष्ट करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है-

'प्रेम के स्वरूप ही नहीं है। प्रेम की व्यापक परिधि में जड़-जगत को सामान्य से सामान्य वस्तु से लेकर प्रकृति, देश, विश्व, मानव और ईश्वर सभी का समाहार होता है।'

नगेन्द्र जी के भाव से स्पष्ट होता है कि प्रेम की कोई निश्चित परिधि नहीं है। यह सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। साहित्य मानव जीवन पर आश्रित होता है, अत: साहित्य में प्रेम निरुपण स्वाभाविक है।

प्रेम को परिभाषित करते हुए महाकवि प्रो. आदेश ने मनोव्यथा में लिखा है-

'प्रेम भूख है नहीं गात की,
प्रेम हृदय की परम पुकार।

प्रेम रूह का ही मजहब,
प्रेम जिन्दगी का हैं सार।।'

निष्कर्ष रूप से हम कह सकते हैं कि प्रेम भावात्मक अनुभूति है जिसमें किसी प्रिय वस्तु या व्यक्ति के प्रति आकर्षण का भाव निहित होता है। यह आकर्षण केवल मानवीय स्तर तक ही सीमित नहीं रहता। अपितु संसार के विभिन्न प्राणियों में भी विद्यमान रहता है। यह प्रेम भाव विविध रूपों में काव्य में चित्रित होता आया है।

सप्तशतियों में चित्रित प्रेम के विविध प्रकार

प्रेम जीवन और जगत में व्याप्त मानवीय अनुभूतियों का चित्रण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है जिसके हृदय पक्ष में निरन्तर कोई न कोई भाव विद्यमान रहता है। प्रेम मानव की आदि एवं चिरतंन भावना है। मानव जीवन का मूलाधार प्रेम ही है। 'ढाई आखर प्रेम का पढै सो पंडित होय' से ही व्यापकता का ज्ञान बोध होता है। प्रेम मानव सृष्टि में भावात्मक व रागात्मक संबंधों के साथ ही ज्ञान एवं बोध का आश्रय लेकर विभिन्न रूप धारण कर लेता है।

आदेश जी की कृति शतदल की भूमिका में डॉ. नरेश मिश्र ने प्रेम के स्वरूप को चित्रित करते हुए लिखा है-है प्रेम जगत का सार और कुछ सार नहीं को बीज रूप में स्वीकार करते हुए कवि आदेश ने प्रेम का बहुरंगी और मार्मिक चित्रण किया है। प्रेम की रीति निराली है, यहाँ सहज लगाव अनिवार्य है, तो युगीन परिवेश में चिंतन भी अपेक्षित है-

बुझाकर मना है शिखा को जलाना,
जलाकर शिखा को बुझाना मना लें
वृथा आज है यत्न आदेश सारे,
कृपण से यहाँ दिल लगाना मना है।।

मानव-प्रेम, वात्सल्य-प्रेम, दांपव्य-प्रेम के नैसर्गिक रूपों के साथ प्रकृति-प्रेम, संस्कृति-प्रेम, देश-प्रेम तथा भाषा प्रेम आदि के विविध रूपों के चित्रित आदेश के काव्य की शोभा बढ़ाते हैं।

आदेश जी ने अपने सम्पूर्ण वाङ्मय में प्रेम को सर्वोपरि माना है। वह प्रेम प्रकृति से लेकर मानवीय सम्बन्धों पर आधारित रहता है। आदेश सहृदय कवि हैं इसलिए उनके समग्र साहित्य में प्रेम के विविध स्वरूपों का मनोहारी चित्रण व्याप्त है।

सप्तशतियों में चित्रित प्रेम के विविध प्रकार

महाकवि आदेश जी की सम्पूर्ण काव्य-कृतियों को प्रेम की विविधता के आधार पर विभिन्न वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(क) प्राकृतिक-प्रकृति की नैसर्गिक छटा प्रारंभ से ही सामाजिक, कवि को आकर्षित करती है। प्राकृतिक दृश्य इतने मनोहारी हैं कि मानव चित्त सब कुछ भूलकर उनमें रम जाता है। मानव व प्रकृति का सम्बन्ध प्राचीनकाल से ही अवलोकनीय है। वैदिक काल से ही प्रकृति ने काव्य-सृजन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हिन्दी जगत के समग्र साहित्य में प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण मिलता है। हम कह सकते हैं कि कवियों को प्रारम्भ से ही प्रकृति अपनी ओर आकर्षित करती आयी है।

मनुष्य स्वभाव से ही सौन्दर्य-प्रेमी है, इसलिए काव्य सृजन के समय उसने प्रकृति के अलौकिक सौन्दर्य का चित्रंकन किया है। प्राकृतिक सौंदर्य से तात्पर्य उन वस्तुओं के वर्णन से है, जो मानव निर्मित न होकर नैसर्गिक हो जैसे-आकाश, सागर, पृथ्वी, वन पर्वत, सरिता, मेघ, चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्र, रात-दिन, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे आदि।

प्राकृतिक सौन्दर्य में फूलों की अनुपम छटा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार फूल खिलते हैं तो काटों की चुभन का भी एहसास होता है। ठीक उसी प्रकार मानव जीवन में भी सुख-दु:ख का आवागमन निरंतर होता रहता है। यही कारण हैं कि मानव जीवन की सुख दुखात्मक प्रवृतियों के चित्रण में प्राकृतिक सौंदर्य हमेशा प्रेरणा स्त्रोत रहा है जिसके कारण मनुष्य अपने उद्देश्य को प्राप्त करता है। सहृदय कवि प्रकृति के सुंदर व उग्र दोनों रूपों को अपने साहित्य में स्थान देता है। इसी संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृतिक दृश्य का चित्रण करते हुए लिखा है-

प्रकृति हमारे सामने आती है-कहीं बेडौल मधु सुसज्जित या सुन्दर रूप में कहीं रूखे या कर्कश रूप में, कहीं भव्य, विशाल रूप में या विचित्र रूप में, कहीं उग्र रूप में, विकराल और भयंकर रूप में। सच्चे कवि का हृदय उनके इन सब रूपों में लीन होता है।

प्रकृति और मानव का अभिन्न संबंध हैं। प्राकृतिक स्वरूपों से गुजरता हुआ मानव विकास की ओर अग्रसर होता है। मानव-समाज में सर्वाधिक संवेदनशील कवि हैं जिसे प्राकृतिक वातावरण निरंतर प्रभावित करता है। महाकवि आदेश ने

अपने काव्य में प्राकृतिक दृश्यों का स्थूल से लेकर सूक्ष्म सभी रूपों का सहज चित्रण किया है। उनकी दृष्टि ने भौतिक-जैविक, चर-अचर, जड़-चेतन, अमंगलकारी-मंगलकारी आदि प्राकृतिक रूपों का समावेश अपने काव्य में किया है।

महाकवि का प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम उनकी समस्त कृतियों में चित्रित हुआ है। उनके हृदय में प्रकृति के प्रत्येक अंग के प्रति गहन अनुराग है। आदेश जी के काव्य में प्राकृतिक-प्रेम के अन्तर्गत वानस्पतिक एवं जीव जंतु के प्रति अगाध प्रेम दिखाई देता है।

(ख) वानस्पतिक-वनस्पति के अन्तर्गत पेड़-पौधे, फल-फूल, लता, घास आदि आते हैं। वानस्पतिक मानव जीवन का मूलाधार है। प्रकृति जहाँ एक और मानव जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। वहीं दूसरी ओर मानव को इन्द्रिय सुख प्रदान करती है। भारतीय वनस्पति के प्रति कवि का अतिशय प्रेम दृष्टिगोचर होता है। आदेश जी की कविता बहकते कलाकार में वनस्पति को आधार रूप में ग्रहण कर गुरु की उद्‌बोधक शक्ति का चित्रण करती है।

आदेश जी ने प्रकृति को मनमोहक रूप में चित्रित करते हुए धरावधू के सौंदर्य में पुष्प महत्त्व को परिलक्षित करते हुए लिखा है-

सुरसरि के समीप ही सुन्दर,
सुमन-सदन था सुस्थित।
मानो सुधर धरावधू का,
चूड़ा हो पुष्प विनिर्मित॥

' जिन्दगी' कविता में कवि ने मौत को जिन्दगी का फूल मानते हुए लिखा है-

जिन्दगी कठिनाइयों का नाम है।
मौत कहते हैं जिसे,
वह जिन्दगी का फूल है।
जिन्दगी को भार समझे,
यह बड़ी ही भूल है।

कवि ने 'देवालय' कृति में वृक्ष की एक शाखा को मानवीकृत रूप में चित्रित करते हुए लिखा है-

वृक्ष की है शाख।
क्यों निर्भीत-सी
बिल्कुल अकेली
पूर्णतः
निर्वस्त्र-सी
होकर खड़ी हो ?

आदेश जी ने प्रकृति का चित्रण करते हुए नारी की सुन्दरता को मलय पवन व गुलाब की पंखुड़ियों के सदृश माना है-

मलय-पवन परिरंभित ज्यूं
झरती गुलाब-पंखुडियाँ
श्रुति-सुगन्ध से सुरभित मानो
चुनी गयी स्वर-मणियाँ।।

आदेश जी ने कविता में स्वयं प्रश्न करके उसका उत्तर साथ देते हुए वनस्पति के विषय में लिखा है-

वनस्पतियों की उपज है
वनस्पति ही तो कहाती
इस जगत में।

कवि ने उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट किया है कि संसार में जो भी वनस्पति है उससे वनस्पति का ही जन्म होता है। उसी प्रकार मानव मन में विभिन्न भावों का जन्म होता रहता है कवि प्रकृति के माध्यम से मानवीय भावनाओं को जाग्रत करना चाहता है। कवि ने पुष्प का चित्रण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार पुष्प सभी के मन को अपनी ओर आकर्षित करता है। उसी प्रकार प्रकृति का सुरम्य वातावरण निरन्तर आनन्दानुभूति कराता रहता है। वह दु:खों से दूर रखता है-

तुम पुष्प चयन करती हो,
वन-उपवन की
वल्लरियों और विटपों से
शूल की सीमाओं से निकालकर
सजाती हो,
पुष्प-पात्रों में।
जो मोहते हैं

हर दर्शक,
हर आगत का मन॥

आदेश जी ने अपनी कृति ' शतदल' में जीवन के यथार्थ का चित्रण प्रकृति के सम्बन्ध से जोड़ते हुए लिखा है।

महाकवि ने प्राकृतिक मनभावन दृश्यों का चित्रण करते हुए पतझड़ के कारण पत्र-विहीन वृक्ष तथा वनस्पतियों के विवर्ण होने का सहज और स्वाभाविक रूप प्रस्तुत किया है-

पतझड़ आया झर चले पात।
हो चला क्षीण रवि का आतप।
हो चले विवर्ण पुहुप-पादप।
हो चले शिथिल-गति जल-प्रताप॥

प्रो. आदेश ने उपर्युक्त पक्तियों में निरंतर परिवर्तन के कारण वानस्पतिक प्रभाव को परिलक्षित किया है। जिस प्रकार मानव-जीवन में सुख-दु:ख आते रहते हैं, ठीक उसी प्रकार वनस्पतियों पर भी पतझर व बसन्त ऋतु का प्रभाव पड़ता है।

आदेश जी ने मानवीय अभिव्यक्ति के प्रकृति के सुरम्य वातावरण को प्रभावशाली बताया है। वे ट्यूलिप के फूल व प्लम के पेड़ का मनोहारी दृश्य उपस्थित करते हुए कहते हैं –

नारंगी-सित-लाल पित, बैंगनी, ऋतु-अनुकूल।
मन की रह-रह मोहते, सखि। ट्यूलिप के फूल॥
देखो प्लम के पेड़ पर, फूल उगे हैं श्वेत।
किन्तु प्रकृति-षड्यंत्र-वश, फल होंगे अश्वेत॥

कवि ने मानव मन की अभिव्यक्ति को प्रकृति के माध्यम से और सरसता और सहज प्रदान की है-

गेहूं-मक्का की बालों पर
झूलूंगा झूला डाल-डाल।
मेरे मद से मतवाली हो,
फसलें हो जाएंगी निहाल॥

उपर्युक्त विवेचनोपरांत संक्षेप में कह सकते हैं कि आदेश जी की समस्त कृतियों में वनस्पतिक स्वरूप और प्रेम का प्रकृति के माध्यम से सहज और स्वाभाविक वर्णन कवि द्वारा किया गया है। कवि ने पेड़-पौधे, फल-फूल, लता

आदि के माध्यम से मानव जीवन को आदर्श रूप प्रदान करने के लिए मनुष्य की आंतरिक भावनाओं को प्रेरित करने का प्रयास किया है। कवि का वानस्पतिक प्रेम उनकी समस्त कृतियों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कवि कहीं पर मानवीय सौंदर्य के दर्शन कराता है तो कहीं उपदेशात्मक संदेश के माध्यम से वानस्पतिक चित्रण प्रस्तुत करता है।

महाकवि सूरदास हिन्दी के श्रेष्ठ भक्त कवि थे। उनका संपूर्ण काव्य ब्रजभाषा का शृंगार है, जिसमें विभिन्न राग, रागनियों के माध्यम से एक भक्त हृदय के भावपूर्ण उद्‌गार व्यक्त हुए हैं। कृष्ण, गाय, वृंदावन, गोकुल, मथुरा, यमुना, मधुवन, मुरली, गोप, गोपी आदि के साथ-साथ संपूर्ण ब्रज-जीवन, संस्कृति एवं सभ्यता के संदर्भ में उनकी वीणा ने जो कुछ गाया, उसके स्वर और शब्द, शताब्दियां बीत जाने पर भी भारतीय काव्य की संगीत के रूप में व्याप्त हैं। उनके काव्य का अंतरंग एवं बहिरंग पक्ष अत्यंत सुदृढ़ और प्रौढ़ है तथा अतुलित माधुर्य, अनुपम सौंदर्य और अपरिमित सौष्ठव से भरा पड़ा है।

काव्य पक्ष

काव्य के मुख्य रूप से दो पक्ष होते हैं-

1. भावपक्ष
2. कलापक्ष

भावपक्ष काव्य का आंतरिक गुण है। इसका संबंध कवि की सहृदयता और भावुकता से होता है। काव्य के शरीर तत्त्व को कलापक्ष कहते हैं। इसका संबंध कवि की चतुरता और रचना-कौशल से होता है। भावपक्ष एवं कलापक्ष से समन्वित काव्य ही श्रेष्ठ काव्य का उदाहरण माना जाता है।

भावपक्ष

महाकवि सूरदास का 'सूरसागर' वास्तव में रस का महासागर है। इसमें भावों की विविधता और अनेक रूपता के सहज दर्शन होते हैं। मानव हृदय की गहराइयों में डूबने वाले कवि से यही आशा और अपेक्षा भी होती है। अपने सीमित क्षेत्र में भी नवीन उद्‌भावनाओं, कोमल कल्पनाओं आदि के कारण ही सूरदास हिंदी साहित्य के सवश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। सूरदास की कविता के भावपक्ष को निम्न प्रकार से देखा जा सकता है-

वस्तु-वर्णन

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से सूरदास के संपूर्ण काव्य को प्रमुखत: छ: भागों में बांटकर देखा जा सकता है-(1.) विनय के पद, (2.) बालक कृष्ण से संबंधित पद, (3.) कृष्ण के रूप-सौंदर्य संबंधी पद, (4.) कृष्ण और राधा के रति भाव संबंधी पद, (5.) मुरली संबंधी पद, और (6.) वियोगश्रृंगार के भ्रमरगीत के पद।

विनय के पदों में सूरदास ने विनय की संपूर्ण भूमिकाओं एवं वैष्णव भक्ति संबंधी समस्त नियमों के अनुकूल विनम्रता, निराभिमानता, निष्कपटता, इष्टदेव की महत्ता, भक्त की लघुता आदि का निरुपण बड़ी सजीवता के साथ किया है। कृष्ण के बाल-जीवन संबंधी पदों में सूरदास की अद्‌भुत कला के दर्शन होते हैं। सूरदास ने बाल-जीवन का ऐसा जीता-जागता चित्र अंकित किया है, जिसमें मनोवैज्ञानिकता, सरसता और चित्ताकर्षकता, सभी विद्यमान हैं। कृष्ण के रूप-माधुर्य संबंधी पदों में सूरदास ने अपने इष्टदेव कृष्ण के अनंत सौंदर्य की ऐसी झांकी प्रस्तुत की है, जिसे देखकर सभी का हृदय अनायास ही उस सौंदर्य पर न्यौछावर हो जाता है। कृष्ण और राधा के रति संबंधी पदों में सूरदास कृष्ण के साथ राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हुए उन्हें आराध्य देवी के पद पर प्रतिष्ठित करते हैं। मुरली संबंधी पदों में सूरदास मुरली को एक साधारण मनोमुग्धकारी यंत्र से अधिक व्यापक अर्थ प्रदान करते हैं। और आखिर में वियोग संबंधी भ्रमरगीत के पदों में सूरदास की कला के सर्वोत्कृष्ट रूप का दर्शन होता है। इन पदों में सूरदास ने सरसता, वाग्वैदग्ध्य एवं माधुर्य के साथ-साथ उद्धव संदेश, गोपियों की झुंझुलाहट, प्रेमातिरेक, व्यंग्य-विनोद, हास-परिहास, उपालंभ, उदारता, सहज चपलता, विरहोंमाद, वचन-वक्रता आदि का अद्‌भुत वर्णन किया है। स्पष्ट है कि सूरदास ने कृष्ण के बाल-जीवन से लेकर किशोरावस्था तक की संपूर्ण क्रीड़ाओं, चेष्टाओं एवं व्यापारों आदि के मनोहारी चित्रण द्वारा' सूरसागर' के रूप में एक अद्‌भुत काव्य की सृष्टि की है, जिसमें वात्सल्य और विप्रलंभ संबंधी वर्णन सर्वोपरि हैं।

प्रकृति-चित्रण

सूरदास, सूर कुटी, सूर सरोवर, आगरा

सूरदास की कविता के केंद्र में ब्रज प्रदेश की रमणीय प्रकृति अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित है। ब्रज प्रदेश की प्रकृति का मनोहारी रूप और

आनंदोल्लासपूर्ण मधुर कलरव सूरदास के प्रत्येक पदों में गुंजायमान है। प्रकृति-नटी की रमणीय झांकी अंकित करते हुए सूरदास उसके षड्-ऋतुओं में परिवर्तित होने वाले दिव्य सौंदर्य का मनमोहक निरुपण करते हैं। बसंत ऋतु के एक चित्र में कोकिल सदैव शोर मचाती रहती है, मन्मथ सदा चित्त चुराता रहता है, वृक्षों की डालियां विविध प्रकार के पुष्पों से भरी रहती हैं, जिन पर भ्रमर उन्मुक्त होकर विलास करते रहते हैं, और ऐसे में सर्वत्र हर्ष एवं उल्लास छाया रहता है और कोई भी उदास नहीं होता-

'सदा बसंत रहत जहं बास। सदा हर्ष जहं नहीं उदास॥
कोकिल कीर सदा तंह रोर। सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
विविध सुमन बन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार॥'

कलापक्ष

कलापक्ष काव्य का बाह्य अंग होता है, जिसके अंतर्गत प्रमुखत: काव्य-शैली, भाषा, अलंकार आदि का समावेश होता है। ये तीनों भावों के वाहक हैं, जिनके माध्यम से भावों को संप्रेषित किया जाता है। सूरदास की कविता के कलापक्ष को निम्नांकित रूप में देख सकते हैं-

काव्य-शैली

जीवन की कोमलतम अनुभूतियां गीत-शैली में उत्तम ढंग से व्यक्त हो सकती हैं। इसीलिए सूरदास ने गीत-शैली का आधार ग्रहण किया। कृष्ण का ब्रज रूप समस्त गीति-काव्य की सुंदरतम भावभूमि है। 'सूरसागर' में एक ओर जहां कथा की क्षीण धारा प्रवाहित होती है, वहीं दूसरी ओर वर्णात्मक प्रसंग भी हैं, किंतु इनमें कवि का मन ज्यादा रमा नहीं है। प्रत्येक समर्थ साहित्यकार की अपनी विशिष्ट शैली होती है, जिसमें उसका संपूर्ण व्यक्तित्त्व प्रतिबिंबित होता है। कुछ विद्वानों ने 'सूरसागर' को प्रबंध-मुक्तक काव्य की संज्ञा से विभूषित किया है। डॉ. सत्येंद्र इसे 'कीर्तन काव्य' कहते हैं, जबकि डॉ. ब्रजेश्वर वर्मा ने विविधता की दृष्टि से 'सूरसागर' के पदों का वर्गीकरण निम्नांकित रूप में किया है-

- श्रीमद्भागवत के कथा प्रसंग तथा कथा-पूर्ति हेतु वर्णात्मक अंश
- दृश्य और वर्णन विस्तार
- वर्णात्मक कथानक
- गीतात्मक कथानक

- सामान्य चरित संबंधी गेय पद
- विशिष्ट क्रीड़ा संबंधी गेय पद
- रूप-चित्रण और मुरली-वादन संबंधी गेय पद
- प्रभाव-वर्णन संबंधी गेय पद
- भाव-चित्रण संबंधी गेय पद
- फुटकल गेय पद।

सूरदास के पदों में गीतिकाव्य के सभी प्रधान तत्त्व देखें जाते हैं। सूरदास के पदों की आत्मा संगीत है, जिसकी रचना अनुभूति की सघनता के क्षणों में हुई है। इनमें भाषाओं की वंश वर्तनी है एवं कवि के अंतर्वेग को छंद ने लय की एकरूपता में बांध दिया है। इनमें अभिप्रेत अर्थ भावों तक पहुंचाने का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये सभी विशेषताएं गीतिकाव्य के अंतर्गत आती हैं। निर्विवादित रूप से 'सूरसागर' गीति-शैली का एक अद्वितीय काव्य-ग्रंथ है।

दृष्टिकूटि-शैली

'सूरसागर' में दृष्टिकूटि-शैली भी देखने को मिलती है। सूरदास की काव्य-कला का एक नमूना वह है, जिसमें शब्द-क्रीड़ा का चमत्कार प्रस्तुत किया गया है। इसमें न तो लोकगीतों की सहजता है और न ही आंतरिक संगीतात्मकता। दृष्टिकूटि पद-रचना हिन्दी में सूरदास की अपनी निजी कलात्मक विशेषता है। उनमें शब्द-क्रीड़ा एवं चमत्कार की सर्वत्र प्रमुखता है।

भाषा-शैली

सूरदास की रचना परिमाण और गुण दोनों में महान् कवियों के बीच अतुलनीय है। आत्माभिव्यंजना के रूप में इतने विशाल काव्य का सर्जन सूर ही कर सकते थे, क्योंकि उनके स्वात्ममुं सम्पूर्ण युग जीवन की आत्मा समाई हुई थी। उनके स्वानुभूतिमूलक गीतिपदों की शैली के कारण प्राय: यह समझ लिया गया है कि वे अपने चारों ओर के सामाजिक जीवन के प्रति पूर्ण रूप में सजग नहीं थे, परन्तु प्रचारित पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर यदि देखा जाये तो स्वीकार किया जाएगा कि सूर के काव्य में युग जीवन की प्रबुद्ध आत्मा का जैसा स्पन्दन मिलता है, वैसा किसी दूसरे कवि में नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि उन्होंने उपदेश अधिक नहीं दिये, सिद्धान्तों का प्रतिपादन पण्डितों की भाषा में नहीं किया, व्यावहारिक अर्थात् सांसारिक जीवन के आदर्शों का प्रचार करने वाले सुधारक

का बना नहीं धारण किया, परन्तु मनुष्य की भावात्मक सत्ता का आदर्शीकृत रूप गढ़ने में उन्होंने, जिस व्यवहार बुद्धि का प्रयोग किया है, उससे प्रमाणित होता है कि वे किसी मनीषी से पीछे नहीं थे। उनका प्रभाव सच्चे कान्ता सम्मित उपदेश की भाँति सीधे हृदय पर पड़ता है। वे निरे भक्त नहीं थे, सच्चे कवि थे। ऐसे द्रष्टा कवि थे, जो सौन्दर्य के ही माध्यम से सत्य का अन्वेषण कर उसे मूर्त रूप देने में समर्थ होते हैं। युगजीवन का प्रतिबिम्ब होते हुए उसमें लोकोत्तर सत्य के सौन्दर्य का आभास देने की शक्ति महाकवि में ही होती है, निरे भक्त, उपदेशक और समाज सुधारक में नहीं।

सूरदास जी वात्सल्यरस के सम्राट माने गए हैं। उन्होंने शृंगार और शान्त रसों का भी बड़ा मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। बालकृष्ण की लीलाओं को उन्होंने अन्त:चक्षुओं से इतने सुन्दर, मोहक, यथार्थ एवं व्यापक रूप में देखा था, जितना कोई आँख वाला भी नहीं देख सकता। वात्सल्य का वर्णन करते हुए वे इतने अधिक भाव-विभोर हो उठते हैं कि संसार का कोई आकर्षण फिर उनके लिए शेष नहीं रह जाता।

सूर ने कृष्ण की बाललीला का जो चित्रण किया है, वह अद्वितीय व अनुपम है। डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है–"संसार के साहित्य की बात कहना तो कठिन है, क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंश मात्रा हमारा जाना है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इनी तत्परता, मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टा के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है, न अलंकार की, न भावो की, न भाषा की।

"अपने-आपको पिटाकर, अपना सर्वस्वनिछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इनकी बाललीला-वर्णन की प्रशंसा में लिखा है–"गोस्वामी तुलसी जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा-देखी बहुत विस्तार दिया, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बाल-चेष्टा का निम्न उदाहरण देखिए–

मैया कबहिं बढ़ेगी चोटी ?
कितिक बार मोहि दूध पियत भई,

यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति "बल" की बेनी
ज्यों ह्यववै है लाँबी मोटी॥
खेलत में को काको गोसैयाँ
जाति-पाँति हमतें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत रेनु तन मंडित,
मुख दधि लेप किए॥

सूर के शान्त रस वर्णनों में एक सच्चे हृदय की तस्वीर अति मार्मिक शब्दों में मिलती है।

कहा करौ बैकुठहि जाय ?
जहँ नहिं नन्द, जहाँ न जसोदा,
नहिं जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल
और नहीं कदमन की छाँय।
परमानन्द प्रभु चतुर ग्वालिनी,
ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय।

कुछ पदों के भाव भी बिल्कुल मिलते हैं, जैसे–

अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुंदर भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबधाई॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि छल छल लोचन पानि।
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि॥
राधा सयँ जब पनितहि माधव, माधव सयँ जब राधा।
दारुन प्रेम तबहि नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा॥
दुहुँ दिसि दारु दहन जइसे दगधइ, आकुल कोट-परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कबि विद्यापति भान॥

इस पद्य का भावार्थ यह है कि प्रति क्षण कृष्ण का स्मरण करते-करते राधा कृष्णरूप हो जाती हैं और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग में "राधा राधा' रटने लगती हैं। फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह से संतप्त होकर फिर 'कृष्ण कृष्ण' करने लगती हैं।

सुनौ स्याम ! यह बात और काउ क्यों समझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै॥
जब राधे, तब ही मुख "माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधो ह्यवै जाति, सकल तनु राधा–विरह रहै॥
उभय अग्र दव दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥

सूरसागर में जगह-जगह दृष्टिकूट वाले पद मिलते हैं। यह भी विद्यापति का अनुकरण है। "सारंग" शब्द को लेकर सूर ने कई जगह कूट पद कहे हैं। विद्यापति की पदावली में इसी प्रकार का एक कूट देखिए–

सारँग नयन, बयन पुनि सारँग,
सारँग तसु समधाने।
सारँग उपर उगल दस सारँग
केलि करथि मधु पाने॥

पश्चिमी हिन्दी बोलने वाले सारे प्रदेशों में गीतों की भाषा ब्रज ही थी। दिल्ली के आस-पास भी गीत ब्रजभाषा में ही गाए जाते थे, यह हम खुसरो (संवत् 1340) के गीतों में दिखा आए हैं। कबीर (संवत् 1560) के प्रसंग में कहा जा चुका है कि उनकी "साखी" की भाषा तो "सधुक्कड़ी" है, पर पदों की भाषा काव्य में प्रचलित ब्रजभाषा है। यह एक पद तो कबीर और सूर दोनों की रचनाओं के भीतर ज्यों का त्यों मिलता है–

है हरिभजन का परवाँन।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो
तिरे जल पापान।
अधम भील, अजाति गनिका
चढ़े जात बिवाँन॥
नवलख तारा चलै मंडल,

चले ससहर भान।
दास धू कौं अटल
पदवी राम को दीवान॥
निगम जामी साखि बोलैं
कथैं संत सुजान।
जन कबीर तेरी सरनि आयौ,
राखि लेहु भगवान॥
(कबीर ग्रंथावली)
है हरि-भजन को परमान।
नीच पावै ऊँच पदवी,
बाजते नीसान।
भजन को परताप ऐसो
जल तरै पाषान।
अजामिल अरु भील गनिका
चढ़े जात विमान॥
चलत तारे सकल, मंडल,
चलत ससि अरु भान।
भक्त ध्रुव की अटल पदवी
राम को दीवान॥
निगम जाको सुजस गावत,
सुनत संत सुजान।
सूर हरि की सरन आयौ,
राखि ले भगवान॥
(सूरसागर)

कबीर की सबसे प्राचीन प्रति में भी यह पद मिलता है, इससे नहीं कहा जा सकता है कि सूर की रचनाओं के भीतर यह कैसे पहुँच गया।

राधाकृष्ण की प्रेमलीला के गीत सूर के पहले से चले आते थे, यह तो कहा ही जा चुका है। बैजू बावरा एक प्रसिद्ध ग्वैया हो गया है जिसकी ख्याति तानसेन के पहले देश में फैली हुई थी। उसका एक पद देखिए–

मुरली बजाय रिझाय लई मुख मोहन तें।
गोपी रीझि रही रसतानन सों सुधबुध सब बिसराई।

धुनि सुनि मन मोहे, मगन भईं देखत हरि आनन।
जीव जंतु पसु पंछी सुर नर मुनि मोहे, हरे सब के प्रानन।

बैजू बनवारी बंसी अधर धरि बृंदाबन चंदबस किए सुनत ही कानन।।

जिस प्रकार रामचरित का गान करने वाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गाने वाले भक्त कवियों में महात्मा सूरदास जी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य गगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त शिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहां। हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ। इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया।

उत्तम पद कवि गंग के,
कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गँभीर को,
सुर तीन गुन धीर।।

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है–

किधौं सूर को सर लग्यो,
किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो,
बेध्यो सकल सरीर।।

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्यभूमि में उनकी वाणी ने संचरण किया उसका कोई कोना अछूता न छूटा।शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक ओर किसी कवि की नहीं।

काहे को आरि करत मेरे मोहन !
यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर,
है बात तेरी खोटी।।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो
हाथ लकुट लिए छोटी।।
सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेनु–तन–मंडित,
मुख दधि-लेप किए।।

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावति,
डगमगाय धरै पैयाँ।।

पाहुनि करि दै तरक मह्यौ।
आरि करै मनमोहन मेरो,
अंचल आनि गह्यो।।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती,
दधि भ्वै ढरकि रह्यो।।

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। "स्पर्धा" का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है–

मैया कबहिं बढ़ैगी चीटी ?
कितिक बार मोहिं दूध पियत भई,
वह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति "बल" की बेनी ज्यों
ह्यवै है लाँबी मोटी।।

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के यह वचन देखिए–

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहिं,
न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें,
अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।।

वात्सल्य के समान ही श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तब तक का उनका सारा जीवन ही संयोग पक्ष है।

करि ल्यौ न्यारी,
हरि आपनि गैयाँ।
नहिंन बसात लाल कछु तुमसों
सबै ग्वाल इक ठैयाँ।
धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।

एक धार दोहनि पहुँचावत,
एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।।
मोहन कर तें धार चलति पय
मोहनि मुख अति ह छवि बाढ़ी।।

राधा कृष्ण के रूप वर्णन में ही सैंकड़ों पद कहे गए हैं इनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं–

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई,
नहिं पटतर एक सैन।।
राजिवदल इंदीवर, शतदल,
कमल, कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति।।
अरुन असित सित झलक पलक प्रति,
को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन
मिलि आगम कीन्हों आय।।

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं–

सींचत नैन-नीर के, सजनी ! मूल पतार गई।
बिगसति लता सभाय आपने छाया सघन भई।।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई।

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमरगीत है जिसमें गोपियों की वचनवक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं–

ऊधौ ! तुम अपनी जतन करौ
हित की कहत कुहित की लागै,
किन बेकाज ररौ ?
जाय करौ उपचार आपनो,
हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत,
धुन देखियत नहिं नीकी।

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्त शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरुपण बड़े ही मार्मिक ढंग से, हृदय की अनुभूति के आधार पर तर्क पद्धति पर नहीं किया है। सगुण-निर्गुण का यह प्रसंग सूर अपनी ओर से लाए हैं। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती हैं–

निर्गुन कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समुझाय,
सौह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर यों ही बक-बक करता है।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की,
रचि पचि बात बनावत।
सगुण-सुमेरु प्रगट देखियत,
तुम तृन की ओट दुरावत।।

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई सम्बन्ध हो सकता है, यह तो बताओ–

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तु कबहूँ हौ पावत?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत?
नैन विसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत?
सूर श्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यौं तुमको सोउ मोहत?

अन्त में वे यह कहकर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुण में ही अधिक रस जान पड़ता है–

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि,
मदिरा मत्त प्रमाद।
सूर श्याम एते अवगुन में
निर्गुन नें अति स्वाद।।

5

जायसी की प्रेम साधना

मलिक मुहम्मद जायसी (1467-1542), हिन्दी साहित्य के भक्ति काल की निर्गुण प्रेमाश्रयी धारा के कवि थे। वे अत्यंत उच्चकोटि के सरल और उदार सूफी महात्मा थे। जायसी मलिक वंश के थे। मिस्र में सेनापति या प्रधानमंत्री को मलिक कहते थे। दिल्ली सल्तनत में खिलजी वंश राज्यकाल में अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा को मरवाने के लिए बहुत से मलिकों को नियुक्त किया था जिसके कारण यह नाम उस काल से काफी प्रचलित हो गया था। ईरान में मलिक जमींदार को कहा जाता था व इनके पूर्वज वहां के निगलाम प्रान्त से आये थे और वहीं से उनके पूर्वजों की पदवी मलिक थी। मलिक मुहम्मद जायसी के वंशज अशरफी खानदान के चेले थे और मलिक कहलाते थे। फिरोज शाह तुगलक के अनुसार बारह हजार सेना के रिसालदार को मलिक कहा जाता था। जायसी ने शेख बुरहान और सैयद अशरफ का अपने गुरुओं के रूप में उल्लेख किया है।

जीवन

जायसी का जन्म सन् 1467 ई. के आस-पास माना जाता है। वे उत्तर प्रदेश के जायस नामक स्थान के रहने वाले थे। उनके नाम में जायसी शब्द का प्रयोग, उनके उपनाम की भांति, किया जाता है। यह भी इस बात को सूचित करता है कि वे जायस नगर के निवासी थे। इस संबंध में उनका स्वयं भी कहना है-

जायस नगर मोर अस्थानू।
नगरक नांव आदि उदयानू।
तहां देवस दस पहुने आएऊं।
भा वैराग बहुत सुख पाएऊं।।

इससे यह पता चलता है कि उस नगर का प्राचीन नाम उदयान था, वहां वे एक पहुने जैसे दस दिनों के लिए आए थे, अर्थात् उन्होंने अपना नश्वर जीवन प्रारंभ किया था अथवा जन्म लिया था और फिर वैराग्य हो जाने पर वहां उन्हें बहुत सुख मिला था। जायस नाम का एक नगर उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले में आज भी है, जिसका एक पुराना नाम उद्याननगर 'उद्यानगर या उज्जालिक नगर' बतलाया जाता है तथा उसके कंचाना खुर्द नामक मुहल्ले में मलिक मुहम्मद जायसी का जन्म-स्थान होना भी कहा जाता है। कुछ लोगों की धारणा थी। कि जायसी की किसी उपलब्ध रचना के अंतर्गत उसकी निश्चित जन्म-तिथि अथवा जन्म-संवत् का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं पाया जाता। एक स्थल पर वे कहते हैं,

भा अवतार मोर नौ सदी।
तीस बरिख ऊपर कवि बदी।।

जिसके आधार पर केवल इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि उनका जन्म संभवत: 800 हि0 एवं 900 हि0 के मध्य, तदानुसार सन् 1397 ई0 और 1494 ई0 के बीच किसी समय हुआ होगा तथा तीस वर्ष की अवस्था पा चुकने पर उन्होंने काव्य-रचना का प्रारंभ किया होगा। पद्मावत का रचनाकाल उन्होंने 947 हि0 अर्थात् 1540 ई0 बतलाया है। पद्मावत के अंतिम अंश (653) के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उसे लिखते समय तक वे वृद्ध हो चुके थे।

उनके पिता का नाम मलिक राजे अशरफ बताया जाता है और कहा जाता है कि वे मामूली जमींदार थे और खेती करते थे। स्वयं जायसी का भी खेती करके जीविका-निर्वाह करना प्रसिद्ध है। जायसी ने अपनी कुछ रचनाओं में अपनी गुरु-परंपरा का भी उल्लेख किया है। उनका कहना है, सैयद अशरफ, जो एक प्रिय संत थे मेरे लिए उज्ज्वल पंथ के प्रदर्शक बने और उन्होंने प्रेम का दीपक जलाकर मेरा हृदय निर्मल कर दिया।। जायसी कुरूप व काने थे थे। एक मान्यता अनुसार वे जन्म से ऐसे ही थे किन्तु अधिकतर लोगों का मत है कि शीतला रोग के कारण उनका शरीर विकृत हो गया था। अपने काने होने का

उल्लेख जायसी ने स्वयं ही इस प्रकार किया है–एक नयन कवि मुहम्मद गुनी। अब उनकी दाहिनी या बाई कौन–सी आंख फूटी थी, इस बारे में उन्हीं के इस दोहे का सन्दर्भ लिया जा सकता है–

मुहमद बाई दिसि तजा, एक सरवन एक आँखि।

इसके अनुसार यह भी प्रतीति होती है कि उन्हें बाएँ कान से भी कम सुनाई पड़ता था। जायस में एक कथा सुनने को मिलती है कि जायसी एक बार जब शेरशाह के दरबार में गए तो वह इन्हें देखकर हँस पड़ा। तब इन्होंने शांत भाव से पूछा–मोहिका हससि, कि कोहरहि? यानि तू मुझ पर हँसा या उस कुम्हार (ईश्वर) पर? तब शेरशाह ने लज्जित हो कर क्षमा माँगी। एक अन्य मान्यता अनुसार वे शेरशाह के दरबार में नहीं गए थे, बल्कि शेरशाह ही उनका नाम सुन कर उनके पास आया था।

स्थानीय मान्यतानुसार जायसी के पुत्र दुर्घटना में मकान के नीचे दब कर मारे गए जिसके फलस्वरूप जायसी संसार से विरक्त हो गए और कुछ दिनों में घर छोड़ कर यहाँ वहां फकीर की भांति घूमने लगे। अमेठी के राजा रामसिंह उन्हें बहुत मानते थे। अपने अंतिम दिनों में जायसी अमेठी से कुछ दूर एक घने जंगल में रहा करते थे। लोग बताते हैं कि अंतिम समय निकट आने पर उन्होंने अमेठी के राजा से कह दिया कि मैं किसी शिकारी के तीर से ही मरूँगा जिस पर राजा ने आस–पास के जंगलों में शिकार की मनाही कर दी। जिस जंगल में जायसी रहते थे, उसमें एक शिकारी को एक बड़ा बाघ दिखाई पड़ा। उसने डर कर उस पर गोली चला दी। पास जा कर देखा तो बाघ के स्थान पर जायसी मरे पड़े थे। जायसी कभी–कभी योगबल से इस प्रकार के रूप धारण कर लिया करते थे। काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हें अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, मलिक मुहम्मद का मृत्युकाल रज्जब 941 हिजरी (सन् 1542 ई.) बताया है। इसके अनुसार उनका देहावसान 49 वर्ष से भी कम अवस्था में सिद्ध होता है, किन्तु जायसी ने 'पद्मावत' के उपसंहार में वृद्धावस्था का जो वर्णन किया है वह स्वत: अनुभूत–प्रतीत होता है। जायसी की कब्र अमेठी के राजा के वर्तमान महल से लगभग तीन–चौथाई मील के लगभग है। यह वर्तमान किला जायसी के मरने के बहुत बाद बना है। अमेठी के राजाओं का पुराना किला जायसी की कब्र से डेढ़ कोस की दूरी पर था, अत: यह धारणा प्रचलित है कि अमेठी के राजा को जायसी की दुआ से पुत्र हुआ और उन्होंने अपने किले के समीप ही उनकी कब्र बनवाई, निराधार है। इस बात के भी

प्रमाण मिलते हैं कि अमेठी नरेश इनके संरक्षक थे। एक अन्य मान्यता अनुसार उनका देहांत 1558 में हुआ।

कृतियाँ

उनकी 21 रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं जिसमें पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम, कहरनामा, चित्ररेखा, कान्हावत आदि प्रमुख हैं। पर उनकी ख्याति का आधार पद्मावत ग्रंथ ही है। इसमें पद्मिनी की प्रेम-कथा का रोचक वर्णन हुआ है। रत्नसेन की पहली पत्नी नागमती के वियोग का अनूठा वर्णन है। इसकी भाषा अवधी है और इसकी रचना-शैली पर आदिकाल के जैन कवियों की दोहा चौपाई पद्धति का प्रभाव पड़ा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने मध्यकालीन कवियों की गिनती में जायसी को एक प्रमुख कवि के रूप में स्थान दिया है। शिवकुमार मिश्र के अनुसार शुक्ल जी की दृष्टि जब जायसी की कवि प्रतिभा की ओर गई और उन्होंने जायसी ग्रंथावली का संपादन करते हुए उन्हें प्रथम श्रेणी के कवि के रूप में पहचाना, उसके पहले जायसी को इस रूप में नहीं देखा और सराहा गया था। इसके अनुसार यह स्वाभाविक ही लगता है कि जायसी की काव्य प्रतिभा इन्हें मध्यकाल के दिग्गज कवि गोस्वामी तुलसीदास के स्तर कि लगती है। इसी कारण से उन्हें तुलसी के समक्ष जायसी से बड़ा कवि नहीं दिखा। शुक्ल जी के अनुसार जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेमवेदना अत्यंत गूढ़ है। सूफी संतों को इस्लाम प्रचारक कहा जाता है। उन्हें केवल इस्लाम का प्रचारक कहना ठीक नहीं है, जबकि वे लोग अत्यंत उदार दृष्टिकोण के संत थे। लोग उनसे प्रभावित होकर मुसलमान हो जाते थे। इन संतों में धार्मिक दृष्टिकोण बड़ा व्यापक और उदार था। वे इस्लाम को आवश्यक मानते और विचारधारा की स्वतंत्रता और धार्मिक विधि-विधानों के क्षेत्र में स्वतंत्रता के पक्षपाती थे।सूफी मतों के सूफियों ने भारत की धरती पर जन्में धर्मों से बहुत कुछ लिया है। माला जपने की क्रिया उन्होंने बौद्ध धर्म से ली है। सूफियों में शहद खाने का निषेध और अहिंसा-पालन का सिद्धांत जैन धर्म से लिया। भारतीय योगमत का भी सूफियों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। आसन-प्राणायाम आदि के लिए सूफी, योगियों के घ्णी है। सूफी अब सईद ने योगियों से ही ध्यान धारण की बातें सीखी थी।

ईश्वराशधन सूफियों का ध्येय था, प्रेम उनका मूल मंत्र था। एकेश्वरवाद में उनकी आस्था थी, उनके लिए हिंदू-मुस्लिम एक अल्लाह की ही संतान थे।

उनकी भेद में जाति भेद मिलता था। भारतीय हिंदू में मूर्ति पूजा का प्रचार था। सूफी एवं मुसलमानों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। वे समाधि-स्थानों की यात्रा करने लगे। इन स्थानों पर दीप चढ़ाने आदि के द्वारा उन्होंने भी पीरों की पूजा शुरू की। सूफियों ने भारतीय वातावरण के अनुकूल केवल प्रचार ही नहीं किया था, वरन सुन्दर काव्य की भी रचना की। इन काव्य रचनाओं में प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों रूपों में सूफी मत के सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ था। इनका उद्देश्य ईश्वरीय प्रेम के अतिरिक्त जन-समाज को प्रेम-पाश में आबद्ध करना भी था।

जायसी सहित सभी सूफी कवियों ने मुख और लेखनी से जो कुछ भी व्यक्त किया, वह जनता के आश्वासनार्थ सुधा-सिंधु ही सिद्ध हुआ और भारतीय साहित्य के लिए एक अनूठी निधि बन गया। इन्होंने तृषित मानव हृदय को शांति प्रदान की, अतः भारतीयों ने इन संतों में अपने परम हितैषी और शुभ चिंतक ही पाए। प्यासों को पानी देने वाला और भूखों को भोजन देने वाला सदैव सर्वमान्य होता है। इसी प्रकार ये संत भी लोगों के शीघ्र ही सम्माननीय हो गए। यही कारण था कि हिंदू-मुस्लिम दोनों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। हिंदूओं ने तो अपने परम हितैषी सहायक ही पा लिए।

जायसी, मंझन, उसमान आदि सूफी कवियों ने अपने प्रेमाख्यानों की रचना द्वारा जिस पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। वह मानव जीवन के सौहार्दपूर्ण विकास के साथ संबंध रखता है और जो प्रधानतः उनके एकोदृष्टि और एकान्तनिष्ठ हो जाने पर ही संभव है। इनका कहना है कि यदि हमारी दृष्टि विशुद्ध प्रेम द्वारा प्रभावित हो सके और हम उसके आधार पर अपना संबंध परमात्मा से जोड़ लें, तो हमारी संकीर्णता सदा के लिए दूर हो सकती है। ऐसी दशा में हम न केवल सर्वत्र एक व्यापक विश्व-बंधुत्व की स्थापना कर सकते हैं, बल्कि अपने भीतर ही अपूर्ण शांति एवं परम आनंद का अनुभव कर सकते हैं।

इन प्रेमाख्यानों का मुख्य संदेश मानव हृदय की विशालता प्रदान करना तथा उसे सर्वथा परिष्कृत करना एवं अपने भीतर दृढ़ता और एकांतनिष्ठा की शक्ति-भक्ति लाना है। सूफियों के इस प्रेमाघाति जीवनादर्श के मूल में उनका यह सिद्धांत भी काम करता है कि वास्तव में ईश्वरीय प्रेम तथा लौकिक प्रेम में कोई अंतर नहीं है। इश्कमिजाजी तभी तक संदोष है, जब तक उसमें स्वार्थ परायण्ता की संकीर्णता आ जाए और आत्म त्याग की उदारता लक्षित न हो। व्यक्तिगत सुख-दुख अथवा लाभ-हानि के स्तर से ऊपर उठते ही वह एक अपूर्व

रंग पकड़ लेता है और फिर क्रमशः उस रूप में आ जाता है, जिसको इश्क हकीकी के नाम से जाना जाता है। कवियों ने अपनी इन रचनाओं में ऐसा कभी कोई संकेत नहीं छोड़ा, जिससे उनका कोई सांप्रदायिक अर्थ लगाया जा सके। जायसी इस्लामी के अनुयायी थे, मगर उन पर सूफी संत होने के कारण इस्लाम और हिंदू भावना से वे ऊँचे उठे हुए थे।

तिन्ह संतति उपराजा, भांतिहि भांति कुलीन
हिंदू तुरुक दुबो भये, अपने-अपने दीन॥

मातु के रक्त पिता कै बिंदू।
अपने दुबौ तुरुक और हिंदू॥

जायसी ने कई स्थलों पर साधना और धर्म के पक्षों में बाह्याडम्बर का विरोध किया है-

का भा परगट क्या पखारें।
का भा भगति भुइ सिर मारे॥
का भा जय भभूत चढ़ाऐ।
का भा गेरु कापरि लाए॥
का भा भेस दिगंबर छांटे।

का भा आपू उलटि गए काँटे॥
जो मेखहि तजि लोन तू गहा।
ना बाग टहैं भगति बे चाहा॥
बर पीपर सिर जटा न थोरे।
अइस भेसं की पावसि भोरे॥

जब लगि विरह न होई तन, हिए न उपजइ पेम।
तब लगि हाथ न आव तप करम धरम सतनेम॥

यह तन अल्लाह मिंया सो लाइ।
जिदि की षाई तिहि की शाई।

बात बहुत जो कहे बनाई।
छूछ पछौर उड़ि-उड़ि जाए॥
जीवन थोर बहुत उपहाँस।

अधरी ठकुरी पीठ बतासे॥
तोरा अन्याउ होसि का क्रोधी।
बेल न कूदत गोने कूदी॥
पुन्य पाप ते कोउ तरा।
भूखी डाइन तामस भरा॥

पद्मावत में जायसी द्वारा प्रेमाख्यानों का उल्लेख–

बहुतन्ह ऐस जीऊ पर खेला।
तू जोगी केहि माहं अकेला॥
विक्रम धसा प्रेम के बारा।
सपनावति कहाँ गएउ पतारा॥
सुदेवच्छ मुगुधावति लागी।

कंकनपूरि होई गा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गएऊ।
मिरगावति कहं जोगी भएऊ॥
साधा कुवँर मनोहर जोगू।
मधुमालति कहं कीन्ह वियोगू॥

जायसी के साधना के सांम्प्रदायिक प्रतीक

जायसी के प्रेम साधना में कुंडली योग की परिभाषाओं को अंगिकार कर लेने से पद्मावत पर भारतीयता का गहरा रंग चढ़ गया दिखाई देता है। इसमें कवि ने अपनी भावना के अनरूप ही सांप्रदायिक सौहार्द बनाए रखने के लिए आध्यात्मिक पथों का सहारा लिया है। इसलिए उन्होंने कई ऐसे प्रतीक का प्रयोग किया है, जो न सिर्फ आपसी सौहार्द के लिए आवश्यक है, बल्कि भारतीय संस्कृति का भी प्रतीक है––घड़ियाल1

घरी-घरी घरियाल पुकारा।
पुजी बरा सो आपनि मारा॥
नौ पोरी पर दसवं दुबारा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥

–नोपौरी–

नौ पौरी पर दसवं दुवारा।
तेहि पर बाज राज घरियारा॥
नव पंवरी बांकी नव खड़ो।
नवहु जो चढ़े जाइ बरहमांड॥

–दसमद्वार–

दसवँ दुवारा गुपुत एक नांकी।
अगम चढ़ाव बाह सुठि बांकी॥
भेदी कोई जाई आहि घाटी।
जौ लै भेद चढ़ै होइ चांटी॥
दसवँ दुवारा तारुका लेखा।
उलटि दिस्टि जो लख सो देखा॥

नौ पौरी शरीर के नौ द्वार हैं, जिनका उल्लेख अथर्वेद के अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां वरयोध्यां इस वर्णन से ही मिलने लगता है। जायसी की विशेषता यह है कि इन नौ द्वारों की कल्पना को शरीरस्थ चक्रों के साथ मिला दिया है और उन्हें नव-खण्डों के साथ संबंधित करके एक-एक खण्ड का एक-एक द्वार कहा है। इन नव के ऊपर दसवां द्वार है। मध्ययुगीन साधना में इसका बड़ा महत्त्व रहा है। जायसी ने भारतीय परिभाषाओं के साथ ही अत्यंत कुशलता के साथ बड़ी सरलता में सूफी साधना के चरिबसेरे का भी उल्लेख किया है–

नवौं खण्ड पोढि औ तहं वज्र के वार।
चारि बसेरे सौ चढ़ै सात सो उतरे पार॥

जायसी ने पद्मावती के माध्यम से ईश्वरी ज्योति को प्रकट करने का प्रयत्न किया है। इसके नायक रत्नसेन आत्मा का प्रतीक है। सिंहल यात्र–आध्यात्मिक यात्रा का प्रतीक है–

पैगासाइँसन एक विनाती।
मारग कठिन जाब केहि भांती।।
सात समुद्र असुझ अपारा।
मारहिं मगर मच्छ घरियारा।।

उठैं लहरें नहिं जाहि संभारी।
भरविहि कोइ निबहे बेपारी।।
खार, खीर, दधि, जल, उदधि सुर फिलकिला अकूत।
को चढि नाँधे समुद्र ए हे काकार असबुत।।

जायसी को शरीअत पर आस्था थी, वे इसे सावधानावस्था का प्रथम सोपान कहते थे–

साँची रोह "सरीअत' जहि विसवास न होई।
पांव रखे तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचे सोई।।

जायसी की देन

साधनात्मक रहस्यवाद को जायसी की एक बहुत बड़ी देन है कि उन्होंने इस शुष्क और योगमूलक साधनात्मक रहस्य को अत्यंत सरस और मधुर बनाया है। क. पारस जोति लिलाटदि ओति।

दिष्टि जो करे होइ तेहि जोती।।
ख. होतहि दास परष भा लेना।
धरती सरग भएउ सब सोना।।

भा निरमल तिन्ह पायन परसे।
पावर रूप रूप के दरसे।।

नयन नो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
पावा रूप रूप के दरसे॥

बेनी छोरि झार जौं बारा।
सरग पतार होइ अधियारा॥

जायसी का विराट उपास्य शुद्ध सौंदर्य रूपरूपी है। जायसी प्रेम और सौंदर्य के विशिष्ट रहस्यवादी कवि है। सूफी साधना में आध्यात्मिक विरह का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि विरह नहीं है तो तप, जप, धर्म, नेम आदि व्यर्थ है–

जब लगि बिरह न होइ तन हिए न उपजउ पेम
तब लगि हाथ न आव तप, कएम, धरम सतनेम॥

समस्त सृष्टि प्रियतम के विरह से जल रही है–

बिरह कै आगि सूर जरि कापा।
राति देवस जारहि उहि तापा॥
औ सब नखत तराई इं।
टूटे लूक धरति महँ परहूँ॥

एक स्थान पर श्लेष अलंकार के माध्यम से रहस्य भावना को अभिव्यक्ति मिली है–

कहाँ सो खोएहु बिखा लोना।
जेहि ते अधिक रूप ओ सोना॥
का हरतार पार परवा।
गंधक काहे कुरकुटा खाना॥

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि जायसी ने अद्वैती साधनात्मक प्रवृति की अभिव्यक्ति के लिए हठयोगियों में प्रचलित पद्धति को स्वीकार किया है। भावनात्मक रहस्यवाद का तो उनके पद्मावत में अत्यंत सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। सब कुछ मिलाकर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि

सचमुच हिंदी के कवियों में यदि कहीं रमणीय सुंदर अद्वैतीवाद रहस्यवाद है, तो जायसी को सबसे आगे बयान किया जा सकता है।

जायसी का रहस्यवाद

रहस्यवादी भक्त परमात्मा को अपने परम साध्य एवं प्रियतम के रूप में देखता है। वह उस परम सत्ता के साक्षात्कार और मिलन के लिए वैकल्प का अनुभव करता है, जैसे मेघ और सागर के जल में मूलत: कोई भेद नहीं है, फिर भी मेघ का पानी नदी रूप में सागर से मिलने को व्याकुल रहता है। ठीक उसी प्रकार की अभेद-जन्म व्याकुलता एवं मिलन जन्य विह्वलता भक्त की भी होती है। जायसी की रहस्योन्मुखता भी इसी शैली की है। जायसी रहस्यमयी सत्ता का आभास देने के लिए बहुत ही रमणीय तथा मर्मस्थली दृश्य-संकेत उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। पद्मावती के पारस रूप का प्रभाव–जेहि दिन दसन जोति निरमई।

बहुते जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहूँ जहूँ विहँसिं सुभावहि हसिं।
तहँ तहँ छिटकि जोति और को दूजी॥
दामिनि दमकि न सरवरि पूजी।
पुनि ओरि जोति परगसी॥

नयन जो देखा कंवल भा निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नगर हीर॥

जायसी ने प्रकृति मूलत: रहस्यवाद को अपनाया है। जायसी को प्रकृति की शक्तियों में किसी आनंद सत्ता का भान होता है। उसे ऐसा लगता है कि प्रकृति के समस्त तत्त्व उसी अनंत सत्ता के अनुकूल हैं। प्रकृति के समस्त तत्त्व उसी अनंत सत्ता द्वारा चलित अनुशासित और आकर्षित है। उस नदी, चाँद, सूर्य, तारे, वन, समुद्र, पर्वत इत्यादि की भी सर्जना की है–

सरग साजि के धरती साजी।
बरन-बरन सृष्टि उपराजी॥

सागे चाँद, सूरज और तारा।
साजै वन कहू समुद पहारा॥

इस समस्त सृष्टि का परिचालन उसी में इंगित हो रहा है–

साजह सब जग साज चलावा।
औ अस पाछैं ताजन लावा॥
तिन्ह ताजन डर जाइन बोला।
सरग फिरई ओठ धरती डोला॥

चाँद सूरुज कहाँ गगन गरासा।
और मेघन कहँ बीजू तरासा॥
नाथे डारे कारु जस नाचा।
खेल खेलाई केरि जहि खाँचा॥

जायसी ने प्राय: प्रकृति के माध्यम से परेश सत्ता की ओर संकेत दिया है– सिंहलद्वीप की अमराई की अनिवर्चनीय सुखदायी छाया का वर्णन करते हुए कवि ने उस छाया का आध्यात्मिक संकेत भी दिया है–

धन अमराउ लाग चहुँ पासा।
उठा भूमि हुत लागि अकासा॥
तखिर रुबै मलय गिरि लाई।
भइ जग छाह रेनि होइ आई॥

मलय समीर सोहावन छाया।
जेठ जाड़ लागे तेहि माहां॥
ओहि छाँह रेन होइ आबै।
हरिहा सबै अकास देखावे॥

पथिक जो पहुँचे सहिकै धामू।
दुख बिसरै सुख होइ बिसराम॥

जेहि वह पाइ छाँह अनुपा।
फिरि नहिं आइ सहं यह धूप॥

जायसी कहते हैं– संपूर्ण सृष्टि उस प्रियतम के अमर धाम तक पहुँचने के लिए प्रगतिमान है, किंतु वहाँ पहुँचने के लिए साधना की पूर्णता अत्यंत आवश्यक है, अपूर्णता की स्थिति में वहाँ पहुँच पाना अत्यंत कठिन है–

धाइ जो बाजा के सा साधा।
मारा चक्र भएउ दुइ आधा॥
चाँद सुरुज और नखत तराई।
तेहिं डर अंतरिख फिरहिं सबाई॥

पवन जाइ तहँ पहुँचे चाहा।
मारा तेस लोहि भुहं रहा॥
अगिनि उठी उठि जरी नयाना।
धुवाँ उठा उठि बीच बिलाना॥

परनि उठा उठि जाइ न छूवा।
बहुरा रोई आइ भुइं छुआ॥

जायसी की प्रमुख रचनाओं का परिचय

अखरावट

अखरावट जायसी कृत एक सिद्धांत प्रधान ग्रंथ है। इस काव्य में कुल 54 दोहे 54 सोरठे और 317 अर्द्धलिया हैं। इसमें दोहा, चौपाई और सोरठा छंदों का प्रयोग हुआ है। एक दोहा पुनः एक सोरठा और पुनः 7 अर्द्धलियों के क्रम का निर्वाह अंत तक किया गया है। अखरावट में मूलतः चेला गुरु संवाद को स्थान दिया गया है।

अखरावट का रचनाकाल

अखरावट के विषय में जायसी ने इसके काल का वर्णन कहीं नहीं किया है। सैय्यद कल्ब मुस्तफा के अनुसार यह जायसी की अंतिम रचना है। इससे यह स्पष्ट होता है कि अखरावट पद्मावत के बाद लिखी गई होगी, क्योंकि जायसी के अंतिम दिनों में उनकी भाषा ज्यादा सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित हो गई थी, इस रचना की भाषा ज्यादा व्यवस्थित है। इसी में जायसी ने अपनी वैयक्तिक भावनाओं का स्पष्टीकरण किया है। इससे भी यही साबित होता है, क्योंकि कवि प्रायः अपनी व्यक्तित्त्व भावनाओं स्पष्टीकरण अंतिम में ही करता है।

मनेर शरीफ से प्राप्त पद्मावत के साथ अखरावट की कई हस्तलिखित प्रतियों में इसका रचना काल दिया है। "अखरावट" की हस्तलिखित प्रति पुष्पिका में जुम्मा 8 जुल्काद 911 हिजरी का उल्लेख मिलता है। इससे अखरावट का रचनाकाल 911 हिजरी या उसके आस-पास प्रमाणित होता है।

अखरावट की कथावस्तु

1. सृष्टिः

अखरावट के आरंभ में जायसी ने इस्लामिक धर्मग्रंथों और विश्वासों के आधार पर आधारित सृष्टि के उद्भव तथा विकास की कथा लिखी है। उनकी इस कथा के अनुसार सृष्टि के आदि में महाशून्य था, उसी शून्य से ईश्वर ने सृष्टि की रचना की है। उस समय गगन, धरती, सूर्य, चंद्र जैसी कोई भी चीज मौजूद नहीं थी। ऐसे शून्य अंधकार में सबसे पहले पैगम्बर मुहम्मद की ज्योति उत्पन्न की–

गगन हुता नहिं महि दुती, हुते चंद्र नहिं सूर
ऐसइ अंधकूप महं स्पत मुहम्मद नूर॥

कुरान शरीफ एवं इस्लामी रवायतों में यह कहा जाता है कि जब कुछ नहीं था, तो केवल अल्लाह था। प्रत्येक जगह घोर अंधकार था। भारतीय साहित्य में भी इस संसार की कल्पना "अश्वत्थ" रूप में की गई है।

सातवां सोम कपार महं कहा जो दसवं दुवार।
जो वह पवंकिरं उधारै, सो बड़ सिद्ध अपार॥

इन पंक्तियों में जायसी ने मनुष्य शरीर के परे, गुद्येन्द्रिय, नाभि, स्तन, कंठ, भौंहों के बीच के स्थान और कपाल प्रदेशों में क्रमशः शनि, बृहस्पति, मंगल,

आदित्य, शुक्र, बुध और सोम की स्थिति का निरुपण किया है। ब्रह्म अपने व्यापक रूप में मानव देह में भी समाया हुआ है–

माथ सरग घर धरती भयऊ।
मिलि तिन्ह जग दूसर होई गयऊ॥
माटी मांसु रकत या नीरु।
नसे नदी, हिय समुद्र गंभीरु॥

इस्लामी धर्म के तीर्थ आदि का भी कवि ने शरीर में ही प्रदर्शित किया है–

सातौं दीप, नवौ खंड आठो दिशा जो आहिं।
जो ब्राह्मड सो पिंड है हेरत अंत न जाहिं॥
अगि, बाड, धुरि, चारि मरइ भांड़ा गठा।
आपु रहा भरि पूरि, मुहमद आपुहिं आपु महं॥

कवि के अनुसार शरीर को ही जग मानना चाहिए। धरती और आकाश इसी में उपस्थित है। मस्तक, मक्का तथा हृदय मदीना है, जिसमें नवी या पैगम्बर का नाम सदा रहता है। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं को भी इसी प्रकार निर्देशित किया गया–

नाकि कंवल तर नारद लिए पांच कोतवार।
नवो दुवारि फिरै निति दसई कारखवार॥

अर्थात्, नाभि कमल के पास कोतवाल के रूप में शैतान का पहरा है।

जीव ब्रह्मा:

मलिक मुहम्मद जायसी के कथनानुसार ब्रह्मा से ही यह समस्त सृष्टि आपूर्ति की गयी है। उन्होंने आगे फरमाया कि जीव बीज रूप में ब्रह्मा में ही था, इसी से अठारह सहस्त्र जीवयोगियों की उत्पत्ति हुई है–

वै सब किछु करता किछु नाहीं।
जैसे चलै मेघ परिछाही॥
परगट गुपुत विचारि सो बूझा।
सो तजि दूसर और न सूझा॥

जीव पहले ईश्वर में अभिन्न था। बाद में उसका बिछोह हो गया। ईश्वर का कुछ अंश घट-घट में समाया है–

सोई अंस छटे घट मेला।
जो सोइ बरन-बरन होइ खेला॥

जायसी बड़ी तत्परता से कहते हैं कि संपूर्ण जगत ईश्वर की ही प्रभुता का विकास है। कवि कहता है कि मनुष्य पिंड के भीतर ही ब्रह्मा और समस्त ब्रह्माण्ड है, जब अपने भीतर ही ढूँढ़ा तो वह उसी अनंत सत्ता में विलीन हो गया–

बुंदहिं समुद्र समान, यह अचरज कासों कहों।
जो हेरा सो हेरान, मुहमद आपुहि आप महं॥

इससे आगे कवि कहता है कि "जैसे दूध में घी और समुद्र में पोती की स्थिति है, वही स्थिति परम ज्योति की है, जो जगत भीतर-भीतर भासित हो रही है। कवि कहता है कि वस्तुत: एक ही ब्रह्म के चित-अचित् दो पक्ष हुए, दोनों पक्षों के भीतर तेरी अलग सत्ता कहाँ से आई। आज के सामाजिक परिदृश्य में उनका यह प्रश्न अधिक उचित है–

एक हि ते हुए होइ, दुइ सौ राज न चलि सके।
बीचतें आपुहि खोइ, मुहम्मद एकै होइ रहु॥

साधना:

"प्रेम-प्रभु" की साधना ही सूफी साधना है। इसके अन्तर्गत साधक अपने भीतर बिछुड़े हुए प्रियतम के प्रति प्रेम की पीर को जगाता है। पहले जीव-ब्रह्मा एक थे। वह पुन: अपने बिछुड़े हुए प्रियतम से मिलकर अभेदता का आनंद पाना चाहता है।

हुआ तो एक ही संग, हम तुम काहे बिछुड़े।
अब जिउ उठै तरंग, महमद कहा न जाईन किछु॥

कबीर की तरह जायसी भी प्रेम को अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण बताते हुए कहते हैं–

परै प्रेम के झेल, पिउ सहुँ धनि मुख सो करे।
जो सिर संती खेल, मुहम्मद खेल हो प्रेम रस॥

जायसी के कथनानुसार किसी सिद्धांत विशेष का यह कहना कि ईश्वर ऐसा ही है, भ्रम है–

सुनि हस्ती का नाव अंधरन रोवा धाइ के।
जेइ रोवा जेइ ठांव मुहम्मद सो तेसे कहे॥

इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक मत में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश रहता है।

जायसी भी मुहम्मद के मार्ग को श्रेष्ठ मानते हुए भी विधना के अनेक मार्गों को स्वीकार करते हैं। वह अपने लेखन में या साधना में एक सिद्धांत में बंधना नहीं चाहते हैं। जायसी अपनी उदास और सारग्रहिणी बुद्धि के फलस्वरूप योग, उपनिषद्, अद्वैतवाद, भक्ति, इस्लामी, एकेश्वरवाद आदि से बहुत कुछ सीखते हैं। वे कहते हैं कि वह सभी तत्त्व जो ग्राह्य है, प्रेम की पीर जगाने में समर्थ है। ब्रह्मावाद, योग और इस्लामी-सूफी सिद्धांतों का समन्वय जायसी की अपनी विशेषता है। अखरावट में वह कहते हैं–

मा-मन मथन करै तन खीरु।
हुहे सोइ जो आपु अहिरु॥
पाँचों भुत आनमहि मारैं।
गरग दरब करसी के जारे॥
मन माठा-सम अस के धोवै।
तन खेला तेहि माहं बिलोबे॥
जपहु बुद्धि के दुइ सन् फरेहु।
दही चूर अस हिंया अभेरहु॥
पछवां कदुई केसन्ह फेरहु।
ओहि जोति महं जोति अभेरहु॥
जस अन्तपट साढ़ी फूटे।
निरमल होइ मयां सब टूटे॥
मखनमूल उठे लेइ जोति।
समुद माहं जस उलटे कोती॥
जस घिड़ होइ मराइ के, तस जिऊ निरमल होइ।
महै महेरा दूरि करि, भोग कर सुख सोइ॥

अद्वैतवाद के आधार पर ही जायसी ने मूलतः अपने अध्यात्म जगत का निर्माण किया है–

अस वह निरमल धरति अकासा।
जैसे मिली फूल महं बरसा॥
सबै ठांव ओस सब परकारा।
ना वह मिला, न रहै निनारा॥
ओहि जोति परछाहीं, नवो खण्ड उजियार।
सूरज चाँद कै जोती, उदित अहै संसार॥

अखरावट में जायसी ने उदारतापूर्वक इस्लामी भावनाओं के साथ भारतीय हिंदू भावनाओं के सामंजस्य का प्रयत्न किया है। जायसी इस्लाम पर पूर्ण आस्था रखते थे, किंतु उनकी यह इस्लाम भावना सूफी मत की नवीन व्यवस्थाओं से संबंधित है। उनका इस्लाम योगमत, योगाचार-विधानों से मण्डित है और हिंदू-मुस्लिम दोनों एक ब्रह्मा की संतान हैं, की भावना से अलंकृत है। ब्रह्मा विष्णु और महेश के उल्लेख "प्रसंग वश" "अल्लिफ एक अल्लाह बड़ मोइ" केवल एक स्थान पर अल्लाह का नामोल्लेख, कुरान के लिए कुरान और पुराण के नामोल्लेख, स्वर्ग या बिहिश्त के लिए सर्वत्र कैलाश या कविलास के प्रयोग अहं ब्राह्मास्मि या अनलहक के लिए सांह का प्रयोग, इब्लीस या शैतान के स्थान पर "नारद' का उल्लेख योग साधना के विविध वर्णन प्रभृति बातें इस बात की ओर इंगित करती है कि जायसी हिंदू-मुस्लिम भावनाओं में एकत्व को दृष्टि में रखते हुए समन्वय एवं सामंजस्य का प्रयत्न करते हैं। मलिक मुहम्मद जायसी ने हिंदू-मुस्लिम की एकता के विषय में अत्यंत नम्रतापूर्वक कहा–

तिन्ह संतति उपराजा भांतिन्ह भांति कुलीन।
हिंदू तुरुक दुवौ भए, अपने अपने दीन॥
मातु कै रक्त पिता के बिंदू।
उपने दुवौ तुरुक और हिंदू॥

जायसी की यह सामंजस्य भावना उनके उदार मानवतावादी दृष्टिकोण की परिचायक है।

पद्मावत

जायसी हिंदी भाषा के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। उनकी रचना का महान काव्य पद्मावत हिंदी भाषा के प्रबंध काव्यों में शब्द अर्थ और अलंकृत तीनों दृष्टियों से अनूठा काव्य है। इस कृति में श्रेष्ठतम प्रबंध काव्यों के सभी गुण प्राप्त हैं। धार्मिक स्थलों की बहुलता, उदात्त लौकिक और ऐतिहासिक कथा वस्तु-भाषा की अत्यंत विलक्षण शक्ति, जीवन के गंभीर सर्वांगीण अनुभव, सशक्त दार्शनिक चिंतन आदि इसकी अनेक विशेषताएँ हैं। सचमुच पद्मावत हिंदी साहित्य का एक जगमगाता हुआ हीरा है। अवधी भाषा के इस उत्तम काव्य में मानव-जीवन के चिरंतन सत्य प्रेम-तत्त्व की उत्कृष्ट कल्पना है। कवि के शब्दों में इस प्रेम कथा का मर्म है। गाढ़ी प्रीति नैन जल भेई। रत्नसेन और पद्मावती दोनों के जीवन का अंतर्यामी सूत्र है। प्रेम-तत्त्व की दृष्टि से पद्मावत

का जितना भी अध्ययन किया जाए, कम है। संसार के उत्कृष्ट महाकाव्यों में इसकी गिनती होने योग्य है। पद्मावत में सूफी और भारतीय सिद्धांतों का समन्वय का सहारा लेकर प्रेम पीर की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति की गई है।

पद्मावत का रचनाकाल

मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है–

सन नौ से सैतांलिस अहे।
कथा आरंभ बेन कवि कहै॥

इस काल में दिल्ली की गद्दी पर शेरशाह बैठ चुका था। जायसी ने शाह तत्त्व के रूप में दिल्ली के सुल्तान शेरशाह के वैभव को अत्यंत वैभववंत उल्लेख किया है–

सेरसादि दिल्ली सुल्तानू।
चरिऊ खण्ड तपइ जसभानू॥

कुलश्रेष्ठ जी ने 927 हिजरी को इस महानकाल का रचनाकाल माना है। उनका कहना था, इस समय जायसी का पद्मावत अधूरा पड़ा था, उन्होंने इसी समय पूरा किया और इसे 936 तक पूरा कर लिया था।

पद्मावत की लिपि

कुछ विद्वान इसे निश्चित रूप में फारसी लिपि में लिखी मानते हैं। कुछ भागराक्षरों में और कुछ विद्वान केथी अक्षरों में लिखा मानते हैं।

डा. ग्रियसन ने लिखा है कि मूलत: पद्मावत फारसी अक्षरों में लिखा गया और इसका कारण जायसी का धर्म था। हिंदी लिपि में उन्हें पीछे से लोगों ने उतारा है।

एक विद्वान ने बताया है कि जासयी की पद्मावत नागरी अक्षरों में लिखी गई थी। इनका मत यह है कि जायसी के समय में उर्दू का नाम नहीं था और हिंदी भाषा को लिखने के लिए फारसी अक्षरों में आवश्यक विचार भी नहीं हुए थे, अत: जासयी ने अपनी रचना के लिए उर्दू लिपि का चयन कदापि नहीं किया था। इसका कारण यह है कि उस काल में ऐसे अक्षर विद्यमान नहीं थे।

एक मत यह भी है कि जायसी का उद्देश्य हिंदू जनता में सूफी मत का प्रचार करना था, इसलिए उन्होंने स्वभावत: नागरी लिपि में लिखा होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह माना जा सकता है कि पद्मावत की रचना नागरी लिपि में हुई थी। इसी लिपि में जायसी, जनता व साधारण जनता के सामने मकबूल थे। इसलिए उन्होंने इस लिपि को अपने सूफी मत के प्रचार के लिए चुना होगा।

पद्मावत की भाषा पूरब की हिंदी है।

पद्मावत की कथा

जायसी ने कल्पना के साथ-साथ इतिहास की सहायता से अपने पद्मावत की कथा का निर्माण किया है।

भारतवर्ष के सूफी कवियों ने लोकजीवन तथा साहित्य में प्रचलित निजंधरी कथाओं के माध्यम से अपने आध्यात्मिक संदेशों को जनता तक पहुँचाने के प्रयत्न किए हैं। पद्मावती की कहानी जायसी की अपनी निजी कल्पना न होकर पहले से प्रचलित कथा के अर्थ को उन्होंने नये सिरे से स्पष्ट किया है–

सन् नरे सौ तृतालिस अहा।
कथा आरंभ बैन कवि कहा।।
सिंहलद्वीप पद्मिनी रानी।
रतनसेन चितउर गढ़ आनी।।
अलाउद्दीन देहली सुल्तानू।
राघव चेतन कीन्ह बखानू।।
सुना साहि गढ़ छेंकन आई।
हिंदू तुरकन्ह भई लराई।।
आदि अंत जस गाथा अहै।
लिखि भासा चौपाई कहै।।

इन पंक्तियों में जायसी स्वयं बताते हैं कि आदि से अंत तक जैसी गाथा है, उसे ही वे माखा चौपाई में निबद्ध करके प्रस्तुत कर रहे हैं। जायसी का दावा है कि पद्मावती की कथा रसपूर्ण तथा अत्यंत प्राचीन थी–

कवि वियास कंवला रसपूरी।
दूरि सो निया नियर सो दूरी।।
नियरे दूर फूल जस कांटा।
दूरि सो नियारे जस गुरु चांटा।।

भंवर आई बन खण्ड सन् लई कंवल के बास।
दादूर बास न पावई भलहि जो आछै पास॥

आखिरी कलाम

जायसी रचित महान ग्रंथ का सर्वप्रथम प्रकाशन फारसी लिपि में हुआ था। इस काव्य में जायसी ने मसनवी-शैली के अनुसार ईश्वर-स्तुति की है। अपने अवतार ग्रहण करने तथा भूकंप एवं सूर्य-ग्रहण का भी उल्लेख किया है। इस के अलावा उन्होंने मुहम्मद स्तुति, शाहतरत-बादशाह की प्रशस्ति और सैय्यद अशरफ की वंदना, जायस नगर का परिचय बड़ी सुंदरता से किया है। जैसा कि जायसी ने अपने काव्य अखरावट में संसार की सृष्टि के विषय में लिखा था। इस आखिरी काव्य में जायसी ने आखरी कलाम नाम के अनुसार संसार के खत्म होने एवं पुनः सारे मानवों को जगाकर उसे अपना दर्शन कराने एवं जन्नत की भोग विलास के सुपुर्द करने का उल्लेख किया है।

चित्ररेखा

जायसी ने पद्मावत की ही भांति "चित्ररेखा' की शुरुआत भी संसार के सृजनकर्ता की वंदना के साथ है। इसमें जायसी ने सृष्टि के उद्भाव की कहानी कहते हुए करतार की प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा है। इसके अलावा इसमें उन्होंने पैगम्बर मुहम्मद साहब और उनके चार मित्रों का वर्णन सुंदरता के साथ किया है। इस प्रशंसा के बाद जायसी ने इस काव्य की असल कथा आरंभ किया है।

इसकी कथा चंद्रपुर नामक एक अत्यंत सुंदर नगर के राजा, जिनका नाम चंद्रभानु था, की कथा प्रारंभ किया है। इसमें राजा चंद्र भानु की चाँद के समान अवतरित हुई पुत्री चित्ररेखा की सुंदरता एवं उसकी शादी को इस प्रकार बयान किया है–

चंद्रपुर की राजमंदिरों में 700 रानियाँ थी। उनमें रूपरेखा अधिक लावण्यमयी थी। उसके गर्भ से बालिका का जन्म हुआ। ज्योतिष और गणक ने उसका नाम चित्ररेखा रखा तथा कहा कि इसका जन्म चंद्रपुर में हुआ है, किंतु यह कन्नौज की रानी बनेगी। धीरे-धीरे वह चाँद की कली के समान बढ़ती ही गयी। जब वह स्यानि हो गयी, तो राजा चंद्रभानु ने वर खोजने के लिए अपने दूत भेजे। वे ढूंढते-ढूंढते सिंहद देश के राजा सिंघनदेव के यहाँ पहुँचे और उसके कुबड़े बेटे से संबंध तय कर दिया।

कन्नौज के राजा कल्याण सिंह के पास अपार दौलत, जन व पदाति, हस्ति आदि सेनाएँ थी। तमाम संपन्नता के बावजूद उसके पास एक पुत्र नहीं था। घोर तपस्या एवं तप के पश्चात उनको एक राजकुमार पैदा हुआ, जिसका नाम प्रितम कुँवर रखा गया। ज्योतिषियों ने कहा कि यह भाग्यवान अल्पायु है। इसकी आयु केवल बीस वर्ष की है। जब उसे पता चला कि उसकी उम्र सिर्फ ढ़ाई दिन ही रह गई है, तो उन्होंने पूरा राजपाट छोड़ दिया और काशी में अंत गति लेने के लिए चल पड़ा।

रास्ते में राजकुमार की राजा सिंघलदेव से भेंट हो गयी। राजा सिंघलदेव ने राजकुमार प्रीतम कुँवर के पैर पकड़ लिए। उसकी पूरी कहानी और नाम पूछा तथा विनती की, कि हम इस नगर में ब्याहने आए हैं। हमारा वर कुबड़ा है, तुम आज रात ब्याह कराकर चले जाना और इस प्रकार चित्ररेखा का ब्याह, प्रीतम सिंह से हो जाता है। प्रीतम सिंह को व्यास के कहने से नया जीवन मिलता है।

चित्ररेखा में प्रेम की सर्वोच्चता

जायसी प्रेम पंथ के महान साधक-संत थे। प्रेम पंथ में उन्होंने प्रेम पीर की महत्ता का प्रतिपादन किया है। व्यर्थ की तपस्या काम-क्लेश एवं बाह्याडम्बर को वह महत्त्वहीन मानते थे –

का भा पागट क्या पखारे।
का भा भगति भुइं सिर मारें॥
का भा जटा भभूत चढ़ाए।
का भा गेरु कापरि जाए॥
का भा भेस दिगम्बर छांटे।
का भा आयु उलटि गए कांटे॥
जो भेखहि तजि तु गहा।
ना बग रहें भगत व चहा॥
पानिहिं रहइं मंछि औदादुर।
टागे नितहिं रहहिं फुनि गादुर॥
पसु पंछी नांगे सब खरे।
भसम कुम्हार रहइं नित भरे॥
बर पीपर सिर जटा न थोरे।
अइस भेस की पावसि भोऐ॥

जब लगि विरह न होइ तन हिये न उपजइ प्रेम।
तब लगि हाथ न आव पत-काम-धरम-सत नेम॥

जायसी अपने समय के कृश-काय-क्लेश और नाना विध बाह्याडम्बर को साक्ष्य करते हुए कहते हैं कि प्रकट भाव से काया प्रक्षालन से कोई फायदा नहीं हो सकता है। धरती पर सिंर पटकने वाली साधना व्यर्थ है। जटा और भभुत बढ़ाने-चढ़ाने का कोइ मूल्य नहीं है। गैरिक वसन धारण करने से कुछ नहीं होता है। दिगम्बर योगियों का सा रहना भी बेकार है। काँटे पर उत्तान सोना और साधक होने का स्वांग भरना निष्प्रयोजन है। देश त्याग का मौन व्रती होना भी व्यर्थ है। इस प्रकार के योगी की तुलना वर बगुला और चमगादड़ से करते हैं। वे कहते हैं केश-वेश से ईश्वर कदापि नहीं मिलता है। जब वह विरह नहीं होता, हृदय में प्रेम की निष्पति नहीं हो सकती है। बिना प्रेम के तप, कर्म, धर्म और सतनेम की सच्चे अर्थों में प्राप्ति नहीं हो सकती है। जायसी सहज प्रेम विरह की साधना को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं।

कहरानामा

कहरानामा का रचना काल 947 हिजरी बताया गया है। यह काव्य ग्रंथ कहरवा या कहार गीत उत्तर प्रदेश की एक लोक-गीत पर आधारित में कवि ने कहरानाम के द्वारा संसार से डोली जाने की बात की है।

या भिनुसारा चलै कहारा होतहि पाछिल पहारे।
सबद सुनावा सखियन्ह माना, हंस के बोला मारा रे॥

जायसी ने हिंदी में कहारा लोक धुनि के आधार पर इस ग्रंथ की रचना करके स्वयं को गाँव के लोक जीवन एवं सामाजिक सौहार्द बनाने का प्रयत्न किया है। कहरानामा में कहरा का अर्थ कहर, कष्ट, दुख या कहा और गीत विशेष है। हमारे देश भारत में ब्रह्मा का गुणगान करना, आत्मा और परमात्मा के प्रेम परक गीत गाना की अत्यंत प्राचीन लोक परंपरा है।

कहरानामा की कथा

"कहरानामा" तीस पदों की एक प्रेम कथा है। इस कथानुमा काव्य में लेखक जायसी के कथानुसार संसार एक सागर के समान है। इसमें धर्म की नौका पड़ी हुई है। इस नौका का केवट एक ही है। वे कहते हैं कि कोई पंथ को तलवार की धार कहता है, तो कोई सूत कहता है। कई लोग इस सागर में तैरते

हुए हार गया है और बीच में खड़ा है, कोई मध्य सागर में डूबता है और सीप ले आता है, कोई टकटोर करके छूंछे ही लौटता है, कोई हाथ-छोड़ कर पछताता है। जायसी बड़े ही अच्छे अंदाज में दुनिया की बेवफाई और संसार के लोगों की बेरुखी को जगजाहिर करते हैं-

जो नाव पर चढ़ता है, वह पार उतरता है और नख चले जाने पर, जो बांह उठाकर पुकारता है और केवट लौटता नहीं, तो वह पछताता है, ऐसे लोगों को "मुखे अनाड़ी" कहते हैं। बहुत दूर जाना है, रोने पर कौन सुनता है। जो गाँट पूरे हैं, जो दानी हैं, उनके हाथ पकड़ कर केवट नाव पर चढ़ा लेता है, वहाँ कोई भाई, बंधु और सुंघाती नहीं। जायसी कहते हैं कि साधक को इस संसार में परे संभाल कर रखना चाहिए अन्यथा पदभ्रश होने का भय है। जायसी ने योग-युक्ति, मन की चंचलता को दूर करने भोगों से दूर रहने और प्रेम प्रभु में मन रमाने की बातें कहीं हैं। इससे आगे वे कहते हैं, ईश्वर जिसे अपना सेवक समझता है, उसे वह भिखारी बना देता है।

जो सेवक आपून के जानी
तेहि धरि भीख मंगावे रे।
कबिता पंडित दूक्ख-दाद महं,
मुरुख के राज करावै रे॥
चनदन गहां नाग हैं तहवां।
जदां फूल तहां कंटा रे॥
मधू जहवां है माखी तहवा,
गुर जहवा तहं चांटा रे॥

केहरानामा में कहारों के जीवन और वैवाहिक वातावरण के माध्यम से कवि ने अपने आध्यात्मिक विचारों को अभिव्यक्त किया है-

या भिनुसारा चलै कंहारा, होता हि पाछिल पहरारे
सखी जी गवहि हुडुक बाजाहिं हंसि के बोला मंहा रे॥
हुडुक तबर को झांझ मंजीरा, बांसुरि महुआ बाज रे।
सेबद सुनावा सखिन्ह गावा, घर-घर महरीं साजै रे।
पुजा पानि दुलहिन आनी, चुलह भा असबारा रे॥
बागन बाजे केवट साजै
या बसंत संसारा रे।

मंगल चारा होइझंकारा
औ संग सेन सेहली रे।
जनु फुलवारी फुलीवारी
जिनकर नहिं रस केली रे॥
सेंदूर ले-ले मारहिं धै-धै
राति मांति सुभ डोली रे।
भा सुभ मेंसु फुला टेसू,
जनहु फाग होइ होरी रे॥
कहै मुहम्मद जे दिन अनंदा,
सो दिन आगे आवे रे।
है आगे नग रेनि सबहि जग,
दिनहि सोहाग को पखे रे।

मसला

यह जायसी एक काव्य रचना है। इसके आरंभ में जायसी ने अल्लाह से मन लगाने की बात कही है–

यह तन अल्लाह मियां सो लाई।
जिहि की षाई तिहि की गाई॥
बुधि विद्या के कटक मो हों मन का विस्तार।
जेहि घर सासु तरुणि हे, बहुअन कौन सिंगार॥

जायसी कहते हैं, अगर जीवन को निष्प्रेम भाव से जीवन-निर्वाह किया जाए, तो वह व्यर्थ है, जिस हृदय में प्रेम नहीं, वहाँ ईश्वर का वास नहीं हो सकता है। भला सूने गांव में कोई आता है–

बिना प्रेम जो जीवन निबाहा।
सुने गाऊँ में आवै काहा॥

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी के वंशज अशरफी खानदान के चेले थे और मलिक कहलाते थे। तारीख फीरोजशाही में है कि बारह हजार रिसालदार को मलिक कहा जाता था। मलिक मूलत: अरबी भाषा का शब्द है। अरबी में इसके

अर्थ स्वामी, राजा, सरदार आदि होते हैं। मलिक का फारसी में अर्थ होता है–"अमीर और बड़ा व्यापारी'। जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी था। मलिक इनका पूर्वजों से चला आया "सरनामा' है। मलिक सरनामा से स्पष्ट होता है कि उनके पूर्वज अरब थे। मलिक के माता-पिता जापान के कचाने मुहल्ले में रहते थे। इनके पिता का नाम मलिक शेख ममरेज था, जिनको लोग मलिक राजे अशरफ भी कहा करते थे। इनकी माँ मनिकपुर के शेख अलहदाद की पुत्री थी।

सन नव सै सत्ताइस अहा।
कथा आरंभ बैन कवि कहा।।

इसका अर्थ यह है कि "पदमावत" की कथा के प्रारंभिक वचन कवि ने सन् 927 हिजरी (सन् 1520 ई. के लगभग) में कहा था। ग्रंथ के प्रारंभ में कवि ने "शाहे वक्त" शेरशाह की प्रशंसा की है, जिसके शासन काल का आरंभ 947 हिजरी अर्थात् सन् 1540 ई. से हुआ था। उपर्युक्त बात से यही पता चलता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य 1540 ई. में बनाए थे, परंतु इस ग्रंथ को शेरशाह के 19 या 20 वर्ष पीछे समय में पूरा किया होगा।

जायसी का जन्म स्थान

जायसी ने पद्मावत की रचना जायस में की–

जायस नगर धरम् अस्थान।
तहवां यह कबि कीन्ह बखानू।।

जायसी के जन्म स्थान के विषय में मतभेद है कि जायस ही उनका जन्म स्थान था या वह कहीं और से आकर जायस में बस गए थे। जायसी ने स्वयं ही कहा है–

जायस नगर मोर अस्थानू।
नगर का नवां आदि उदयानू।।
तहां देवस दस पहुँचे आएउं।।
या बेराग बहुत सुख पाय

जायस वालों और स्वयं जायसी के कथनानुसार वह जायस के ही रहने वाले थे। पं. सूर्यकांत शास्त्री ने लिखा है कि उनका जन्म जायस शहर के

"कंचाना मुहल्लां" में हुआ था। कई विद्वानों ने कहा है कि जायसी गाजीपुर में पैदा हुए थे। मानिकपुर में अपने ननिहाल में जाकर रुके थे।

डा. वासदेव अग्रवाल के कथन व शोध के अनुसार –

जायसी ने लिखा है कि जायस नगर में मेरा जन्म स्थान है। मैं वहाँ दस दिनों के लिए पाहुने के रूप में पहुँचा था, पर वहीं मुझे वैराग्य हो गया और सुख मिला।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जायसी का जन्म जायस में नहीं हुआ था, बल्कि वह उनका धर्म-स्थान था और वह वहीं कहीं से आकर रहने लगे थे।

6

रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्ति

भक्ति और श्रृंगार की विभाजक रेखा सूक्ष्म है। भक्ति की अनुभूति को व्यक्त करने के लिए बहुत बार राधा-कृष्ण के चरित्र एवं दाम्पत्य जीवन के विविध प्रतीकों का सहारा लिया गया। कबीर जैसे बीहड़ कवि भी भाव-विभोर हो कह उठते हैं– "हरि मोरा पिउ मैं हरि की बहुरिया"। मर्यादावादी तुलसी भी निकटता को व्यक्त करने के लिए "कामिनि नारि पिआरि जिमि" जैसी उपमा देते हैं। कालांतर में राधा-कृष्ण के चरित्र अपने रूप से हट गए और वे महज दांपत्य जीवन के प्रतीक बन कर रह गए। प्रेम और भक्ति की संपृक्त अनुभूति में से भक्ति क्रमशः क्षीण पड़ती गई और प्रेम श्रृंगारिक रूप में केन्द्र में आ गया। भक्ति काल की रीतिकाल में रूपांतरण की यही प्रक्रिया है।

रीतिकालीन काव्य की मूल प्रेरणा ऐहिक है। भक्तिकाल की ईश्वर-केन्द्रित दृष्टि के सामने इस मानव केन्द्रित दृष्टि की मौलिकता एवं साहसिकता समझ में आती है। आदिकालीन कवि ने अपने नायक को ईश्वर के जैसा महिमावान अंकित किया था। भक्त कवियों ने ईश्वर की नर लीला का चित्रण किया तो रीतिकालीन कवियों ने ईश्वर एवं मनुष्य दोनों का मनुष्य रूप में चित्रण किया भक्त कवि तुलसीदास लिखते हैं–

कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ
मति अनुरूप राम गुन गाउँ।

परन्तु भिखारीदास का कहना है–

आगे की कवि रीझिहैं तौ कविताई, न तौ
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो हैं।

एक के लिए भक्ति प्रधान है, इस प्रक्रिया में कविता भी बन जाए तो अच्छा है। कवि तो राम का गुण-गान करता है। वहीं दूसरे के लिए कविता की रचना महत्त्वपूर्ण है। यदि कविता न बन सके तो उसे राधा-कृष्ण का स्मरण मान लिया जाए।

सम्पूर्ण रीति साहित्य को तीन वर्गों में विभक्त किया गया है–रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त। वास्तव में रीतिबद्ध कवि रीतिसिद्ध भी थे और रीतिसिद्ध कवि रीतिबद्ध भी। इस युग के राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जनकवियों में से कतिपय ऐसे थे जिन्होंने आत्म-प्रदर्शन की भावना या काव्य-रसिक समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान कराने के लिए रीतिग्रंथों का प्रणयन किया। अत: इनकी सबसे प्रमुख विशेषता व प्रवृत्ति रीति-निरुपण की ही थी। इसके साथ ही आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए शृंगारिक रचनाएँ भी की, अत: शृंगारिकता भी इस युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी। इधर आश्रयदाता राजाओं के दान, पराक्रम आदि को आलंकारिक करने से उन्हें धन-सम्मान मिलता था। वहीं धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएँ करने से आत्म लाभ होता था। इस प्रकार राज-प्रशस्ति एवं भक्ति भी इनकी प्रवृत्तियों के रूप में परिगणित होती है। दूसरी ओर इन कवियों ने अपने कटु-मधुर व्यक्तिगत अनुभवों को भी समय-समय पर नीतिपरक अभिव्यक्ति प्रदान की। अत: नीति इनकी कविता का अंग कही जा सकती है।

डॉ. नगेन्द्र ने रीति-कवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा है–

(क) मुख्य प्रवृत्ति

(ख) गौण प्रवृत्ति

मुख्य प्रवृत्तियों को दो वर्गों में विभाजित किया है–

1. रीति-निरुपण
2. शृंगारिकता

और गौण प्रवृत्तियों को तीन भागों में बांटा है–

1. राजप्रशस्ति या वीर काव्य
2. भक्ति
3. नीति

रीति-निरुपण

रीतिकालीन कवियों के रीति-निरुपण की शैलियों का अध्ययन करने पर तीन दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

प्रथम दृष्टि तो मात्रा रीति-कर्म की है। इनमें वे ग्रंथ आते हैं जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग-विशेष का परिचय कराना ही कवि का उद्देश्य है, अपने कवित्व का परिचय देना नहीं। ऐसे ग्रंथों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य रचनाकारों के काव्य से दिया गया है या इतना संक्षिप्त है कि कवित्व जैसी कोई बात ही नहीं है। राजा जसवंत सिंह का 'भाषाभूषण', गोविंद का 'कर्णाभरण', रसिक सुमति का 'अलंकार चंद्रोदय', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक ग्रंथ हैं।

द्वितीय प्रवृत्ति में रीति-कर्म और कवि-कर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अंतर्गत लक्षण एवं उदाहरण दोनों उनके रचयिताओं द्वारा रचित है तथा उदाहरण में सरसता का पुट मिला हुआ है। देव, मतिराम, केशव, पद्माकर, कुलपति, भूषण आदि के ग्रंथ इसी श्रेणी में आते हैं।

तीसरी प्रवृत्ति के अंतर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया है। कवियों ने प्राय: सभी छंदों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों से बद्ध होकर ही किया है, लेकिन लक्षणों को त्याग दिया है। बिहारी, मतिराम आदि की सतसइयाँ, नख-सिख वर्णन संबंधी समस्त ग्रंथ इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर इसकी दो अंत: प्रवृत्तियाँ ठहरती हैं।

1. सर्वांग विवेचन
2. विशिष्टांग विवेचन

सर्वांग विवेचन प्रवृत्ति के अंतर्गत आने वाले ग्रंथों में कवियों ने सामान्यत: काव्य-हेतु, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्यशक्ति, काव्य-रीति, अलंकार, छंद आदि का निरुपण किया है। चिंतामणि का 'कविकुलकल्पतरू', देव का 'शब्दरसायन', कुलपति का 'रसरहस्य', भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' आदि इसी प्रवृत्ति के ग्रंथ हैं।

विशिष्टांग विवेचन की प्रवृत्ति के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जिनमें किसी एक या दो या तीन का विवेचन किया गया है। ये विषय हैं– रस, छंद और अलंकार। इनमें रस-निरुपण की प्रवृत्ति इन कवियों में सर्वाधिक देखने को मिलती है। शृंगार को रसराज के रूप में निरुपित करने का भाव सर्वाधिक है।

विवेचन-शैली के आधार पर इस काल में रीति-निरुपण की मुख्य तीन शैलियां प्रचलित हैं।

प्रथम 'काव्यप्रकाश'-'साहित्यदर्पण' की शैली है। इसके अंतर्गत चिंतामणि के 'कविकुलकल्पतरू', देव का 'शब्दरसायन', भिखारीदास का 'काव्य-निर्णय' आदि को रखा जाता है। इसमें मम्मट-विश्वनाथ द्वारा दी गई संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा गद्य की वृत्ति देकर विषय को समझाया गया है।

दूसरी शैली 'चन्द्रालोक'-'कुवलयानंद' की संक्षिप्त शैली है। जसवंत सिंह की 'भाषाभूषण', गोविंद का 'कर्णाभरण', पद्माकर का 'पद्माभरण', दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' आदि इस शैली के ग्रंथ हैं।

तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की है। इसमें लक्षण एवं सरस उदाहरण देकर विषय-निरुपण किया गया है।

शृंगारिकता

शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों का प्राण है। एक ओर काव्यशास्त्रीय बंधनों का निर्वाह और दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप ग्रहण किया, उसे दूसरे कवियों की शृंगारिकता से पृथक् करके देखा जा सकता है।

शास्त्रीय बंधनों ने इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव पक्ष में नायक-नायिका के भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभवों के विविध रूप, वियोग के भेदोपभेद-सहित विभिन्न कामदशाओं संबंधी रचनाओं के अलग-अलग वर्ग बनाये जा सकते हैं।

दूसरी ओर नैतिक बंधनों की छूट एवं आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण ये कवि अपनी कल्पना के पंख इतने फैला सके हैं कि शास्त्रीय घेरे के भीतर निर्माताओं की अभिरुचि एंव दृष्टि की व्यंजना उनकी इस प्रवृत्ति की विशेषता प्रकट हो जाती है। इन कवियों की शृंगार भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार की कुंठा न होकर शरीर-सुख की वह साधना है जिसमें विलास के सभी उपकरणों के संग्रह की ओर व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित होती है। इनके प्रेम-भावना में एकोन्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने इस प्रकार ले लिया है कि कुंठारहित प्रेम की उन्मुक्तता व रसिकता का रूप धारण कर गई है। यही कारण है कि उनकी पत्नियों के बीच अकेला नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार नहीं होता बल्कि निर्द्वन्द होकर भोगने में ही जीवन की सार्थकता समझता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की शृंगारिकता में सामान्य रूप से कुंठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामंती दृष्टिकोण आदि शास्त्रीय बंधनों में बँधकर भी पाठकों को आत्मविभोर कर सकती हैं।

राजप्रशस्ति

यह प्रवृत्ति आश्रयदाताओं की दान-वीरता और युद्ध वीरता के वर्णन में दृष्टिगोचर होती है। इनकी अभिव्यक्ति में सामान्य रूप से दान की सामग्री की प्रचुरता और आश्रयदाताओं के आतंक के प्रभाव के वर्णनों के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती। यह राजाओं की झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है। इनमें उत्साह का अभाव ही रहा है।

भक्ति

भक्ति की प्रवृत्ति ग्रंथों के मंगलाचरणों, ग्रंथों की समाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति एवं शांत रस के उदाहरणों में मिलती है। ये कवि राम-कृष्ण के साथ गणेश, शिव और शक्ति में समान श्रद्धा व्यक्त करते पाये जाते हैं, अत: यह माना जा सकता है कि किसी विशेष सम्प्रदाय के अनुयायी होते हुए भी धार्मिक कट्टरता नहीं थी। वास्तव में इय समय भक्ति धार्मिकता का परिचायक नहीं थी बल्कि विलास से जर्जर दरबारी वातावरण से बाहर आकुल मन की शरणभूमि थी।

नीति

भक्ति इनके आकुल मन शरणस्थली थी तो नीति-निरुपण दरबारी जीवन के घात-प्रतिघात से उत्पन्न मानसिक द्वन्द के विरेचन के लिए शाँति का आधार। यही कारण है कि आत्मोपदेशों में इनके वैयक्तिक अनुभवों की छाप प्राय: देखने को मिल जाती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि गौण-प्रवृत्तियों में राज प्रशस्ति की प्रवृत्ति, शृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति एंव नीति ने उससे निवृत्ति की।

हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकासक्रम के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मध्यकाल के परवर्ती कालखण्ड को उत्तर मध्यकाल कहा तथा

रीतिग्रन्थों के निरुपण की व्यापक प्रवत्ति को देखते हुए उन्होंने उसे रीतिकाल (सं.1700-1900 वि.) कहा। इस नामकरण में शुक्ल जी की पैनी आलोचनात्मक दृष्टि रीति पर टिकी है, जिसको लेकर वे गहन और सूक्ष्म अन्वेक्षण करते हैं। संभव है कि शुक्ल जी को रीति कहने की प्रेरणा मिश्रबंधु से प्राप्त हुई हो, क्योंकि मिश्रबंधु ने इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति 'रीति' स्वीकार की थी और रीतिकाल-प्रकरण लिखने में शुक्ल जी, मिश्रबंधु के सर्वाधिक ऋणी हैं–"मिश्रबंधुओं" के प्रकांड कवि-वृत्त-संग्रह मिश्रबंधु विनोद का उल्लेख हो चुका है। यह भी संभव है कि शुक्ल जी की नजर इस टिप्पणी पर भी पड़ी हो–"आचार्य लोग तो कविता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों के वर्णन में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी।" (मिश्रबंधु विनोद, भाग-दो) इसी तरह रीतिकाल नाम रखने की प्रेरणा शुक्ल जी को अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन से मिली होगी, क्योंकि ग्रियर्सन ने द मॉर्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ नार्दर्न हिंदुस्तान में हिन्दी साहित्य को प्रकरणों में विभक्त करते हुए उसके सातवें प्रकरण (1500 ई. से 1800 ई.) को रीतिकाव्य के नाम से अभिहित किया है।

'रीति' कहने के पीछे शुक्ल जी का मंतव्य इस काल में रचित काव्यांगों की विवेचना करने वाले लक्षणग्रन्थों के प्रणयन से है, क्योंकि इस काल में अधिकतर कवि काव्यांग विवेचन के अंतर्गत लक्षणग्रंथों के माध्यम से पूर्ववर्ती संस्कृत काव्यशास्त्र की बँधी-बँधाई रीति (परंपरागत रचना पद्धति) पर काव्यरचना का व्यापक उपक्रम कर रहे थे। उस काल में काव्यांग विवेचन विषयक काव्यरचना, जो रस, छंद, अलंकार, नायिका-भेद या अन्य शृंगारिक विषयों से संबद्ध थी, उसे रीति-विशेषण (अलंकार-रीति, रस-रीति, कवित्त या काव्य-रीति के रूप में) से संबोधित करने की प्रथा-सी बन गई थी। आचार्य शुक्ल के रीतिकाल नामकरण के लिए इस रीति, काव्य-रीति का उल्लेख एक प्रामाणिक आधार बन गया। वस्तुतः, रीति शब्द अपने परंपरागत अर्थ में काव्यरचना पद्धति के लिए पूर्व में ही प्रयुक्त होने लगा था, जिसे शुक्ल जी ने उसी अर्थ में ग्रहण करते हुए, उसे उपयुक्त माना, "शुक्ल जी को यह शब्द एक बँधे-बँधाए अर्थ में मिल चुका था, अतःअपनी ओर से बिना किसी विवेचना के उन्होंने उसको उसी अर्थ में स्वीकार कर लिया।"।

सामान्य अर्थ में 'रीति' जहाँ मार्ग, गति, पद्धति अथवा परंपरा का वाचक है, वहीं काव्यशास्त्रीय संदर्भों देखा जाए, तो विशिष्ट प्रकार की ऐसी पदरचना

या लेखनशैली को 'रीति' कहा जाता है, जो रचना में विविध गुणों का उन्मेष करती है। रीतिकाल के संदर्भ में 'रीति' का अर्थ उपर्युक्त दोनों से किंचित् भिन्न है, जहाँ वह काव्यरचना की एक पद्धति है, जो काव्यांगों के निरुपण से संबंधित है। वस्तुतरू, हिन्दी में रीतिकाल के संदर्भ में 'रीति' का अर्थ एक बँधीबँधाई परिपाटी में काव्यांग-निरुपण के माध्यम से प्रस्तुत काव्यरचना-पद्धति है। यहाँ इसी परिप्रेक्ष्य में 'रीति' के स्वरूप को स्पष्ट किया जाना अपेक्षित है।

रीतिकालीन काव्यरचना के स्वरूप को निर्धारित करने में उस समय की विभिन्न परिस्थितियों का विशिष्ट योगदान है। दूसरे अर्थों में रीतिकालीन काव्य युगीन परिवेश और परिस्थितियों की स्वाभाविक उद्भूति है। इस काल की काव्यरचना पर तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक-धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव है, जिनके विवेचन-विश्लेषण के बिना उस काव्यरचना को समझा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से रीतिकालीन विभिन्न परिस्थितियों का तटस्थ एवं सम्यक् आकलन अप्रासंगिक नहीं होगा।

वस्तुतः रीतिकाल विषयक मूल्यांकन के अंतर्गत रीति के स्वरूप पर व्यापक रूप से समीक्षात्मक दृष्टिकोण अपेक्षित है। इसी तरह रीतिकालीन काव्यरचना की विस्तृत पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण के लिए उसकी विभिन्न परिस्थतियों का सम्यक् आकलन भी आवश्यक है।

रीति का स्वरूप

'रीति' का सामान्य अर्थ पंथ, मार्ग अथवा परंपरा से संपृक्त है, पर व्यापक अर्थ में 'रीति' का साहित्यिक एवं काव्यशास्त्रीय अर्थ विविध अर्थ-छवियों से संबद्ध है, जहाँ रीति के व्यापक स्वरूप का अनुमान लगाया जा सकता है। 'रीति' के समानार्थी शब्द मार्ग, पथ, पद्धति, प्रथा, परंपरा, प्रणाली, शैली, तर्ज, युक्ति, तरकीब, चलन, नियम, काइदा, रिवाज, तरीका, उपाय, रवायत आदि कहे जा सकते हैं। 'रीति' का प्रयोग पुराने-नए अनेक कवियों ने विविध प्रसंगों में किया है। सूरदास (मधुकर यह कारे की रीति), तुलसीदास (रघुकुल रीति सदा चलि आई), देव (अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति), बिहारी (परत गाँठ दुर्जन हिए दई नई यह रीति), भारतेंदु हरिश्चन्द्र (हरिचंद जमाने की रीति यही, विदा के समय सब कंठ लगावें) के उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। अंग्रेजी में method, technique, style, custom, tradition आदि शब्द 'रीति' के समानार्थी कहे जा सकते हैं। method और style 'रीति' को काव्यशास्त्रीय

संदर्भों में विशिष्ट अर्थध्वनि से संपृक्त कर देते हैं, जहाँ वह अपने सामान्य अर्थ से अलग काव्शास्त्रीय विमर्श को बहुत दूर तक ले जाने वाला पारिभाषिक शब्द बन जाता है। इस रूप में वह आचार्य भरतमुनि से आरंभ होकर आचार्य दंडी और आचार्य वामन तक प्रसरित है। संस्कृत काव्यशास्त्र में नाट्यशास्त्र के विशिष्ट अर्थ से आरंभ होकर हिन्दी के रीतिकाल में काव्यरचनापद्धति के अर्थ तक 'रीति' का स्वरूप बहुत व्यापक है। वस्तुतः रीतिकाल के संदर्भ में 'रीति' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावान्विति वाला शब्द है, जिसके विवेचन की आवश्यकता है।

1. रीति और काव्यशास्त्रीय रीति संप्रदाय

'रीति' शब्द का उल्लेख होते ही सबसे पहले हमारा ध्यान संस्कृत काव्यशास्त्र के 'रीति संप्रदाय' की ओर अनायास चला जाता है। रीति संप्रदाय की वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली रीतियों से हिन्दी के रीतिकाल वाले 'रीति' का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष कोई संबंध नहीं है, क्योंकि हिन्दी में जहाँ 'रीति' का अर्थ लक्षणग्रन्थों की रचना के क्रम में काव्यरचना-पद्धति है, वहीं संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति, काव्यशास्त्रीय सिद्धांत-विवेचन के अंतर्गत काव्य की शैली के रूप में व्यवहृत है। हालाँकि संस्कृत में आचार्य वामन-प्रवर्तित रीति संप्रदाय नाम में पूरा काव्यशास्त्रीय संप्रदाय ही विद्यमान है, बावजूद इसके रीति की चर्चा वामन से पूर्व भी अनेक काव्यशास्त्रियों ने की है, जहाँ 'रीति' को काव्यरचना की शैली अथवा मार्ग के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है। हाँ, वामन ने रीति को एक प्रमुख काव्यशास्त्रीय संप्रदाय के रूप में स्थापित किया और रीतियों की विस्तृत एवं व्यवस्थित व्याख्या की।

काव्यरीतियों के अपने वैशिष्ट्य के कारण वामन ने 'रीति' को विशिष्ट पदरचना (विशिष्ट पदरचना रीति) के रूप में प्रस्तुत किया और उसके साहित्यिक महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसे काव्य का आत्मतत्त्व (रीतिरात्मा काव्यस्य) स्वीकार किया। यहाँ निश्चय ही काव्य की शैली के रूप में 'रीति' का विशिष्ट अर्थ है। संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रायःसभी प्रमुख आचार्यों ने रीति को पदरचना की विशिष्ट शैली के रूप में ही स्वीकार किया है। 'रीति' का सबसे प्राचीन उल्लेख अग्निपुराण में मिलता है, जहाँ वह गुणों से समन्वित काव्य की शैली के रूप में विद्यमान है। अलंकारवादी आचार्य दंडी ने रीति को 'मार्ग' के रूप में स्वीकार किया है, यानि काव्यरचना के मार्ग, जो गुणों पर आधारित हैं, रीति के अंतर्गत आते हैं। रूद्रट रीति को

'समास पद्धति' से जोड़कर देखते है। मम्मट रीति को 'काव्य-वृत्ति' के रूप में मानते हैं। कुंतक ने रीति का अर्थ 'मार्ग' बतलाया है। आनन्दवर्धन रीति को 'संघटना' नाम से अभिहित करते हैं, वहीं राजशेखर रीति को 'वचनविन्यास का क्रम' कहते हैं। 'रीति' के इस अर्थ के साथ रीतिकाल के 'रीति' का कोई तालमेल नहीं बैठता, बल्कि 'रीति'-अभिधान की साम्यता के साथ वह भ्रम भी पैदा करता है, क्योंकि रीतिकाल में रीति, लक्षणग्रन्थों के माध्यम से काव्यांगों के विविध विषयों पर प्रस्तुत काव्यरचना है। यहाँ वह शैली (style) या (method) नहीं, वरन् वह वस्तु या विषयवस्तु (matter / subject matter) की तरह प्रयुक्त है। वस्तुत: काव्यशास्त्रीय 'रीति' और रीतिकालीन 'रीति' के अर्थों में पर्याप्त भिन्नता है।

2. हिन्दी में रीति और रीतिकाव्य

हिन्दी में रीति का अर्थ आचार्य वामन के रीतिसंप्रदाय के अंतर्गत प्रस्तुत किए गए शास्त्रीय अर्थ से बिल्कुल अलग है, जहाँ वह रस, छंद, अलंकार आदि काव्यांगों के विविध रूपों के लक्षणों और उदाहरणों को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करने का ढंग या तरीका (method) है, जो संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, ध्वनि आदि संप्रदायों की परंपरा में रचित कतिपय प्रमुख लक्षणग्रन्थों से प्रेरित एवं प्रभावित है। दूसरे अर्थों में, वह काव्यांगों के स्वरूप को स्पष्ट करने के क्रम में काव्यरचना की पद्धति (technique) है। इस दृष्टि से पूर्व में रचित संस्कृत में काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों की समृद्ध परंपरा विद्यमान रही है, जहाँ काव्यांगों के लक्षण और उदाहरण देने की परिपाटी थी।उसी परिपाटी को हिन्दी के कवियों ने अपने तरीके से परंपरागत रूप में ग्रहण किया, जिसके कारण उन्हें परंपरा, यानि रीति का अनुसरण करने वाले कवि के रूप में जाना गया। ऐसे कवियों को 'रीति-कवि' एवं उनकी काव्यरचना को 'रीतिकाव्य' कहने का प्रचलन हो गया, "रीतिशास्त्र का तात्पर्य उन लक्षण देने वाले या सिद्धांत-चर्चा करने वाले ग्रन्थों से है, जिनमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद, अवयव आदि के लक्षण दिए गए हों। ऐसे ही रीतिकाव्य उस काव्य को कहेंगे, जिसमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति आदि के उदाहरण के रूप में या इनका ध्यान रखकर काव्य लिखा गया हो।" स्वाभाविक रूप से इस समय कमोबोश सभी कवि 'काव्य-रीति' (भिखारीदास ने कहा भी है-'काव्य की

रीति सिखी सुकवीन सों, देखी-सुनी बहु लोक की बातें') का ही अनुसरण कर रहे थे, "यहाँ साहित्य को गति देने में अलंकारशास्त्र का ही जोर है, जिसे उस काल में 'रीति', 'कवित्त-रीति' या 'सुकवि-रीति' कहने लगे थे, संभवत: इन्हीं शब्दों से प्रेरणा पाकर शुक्ल जी ने इस श्रेणी की रचनाओं को रीति-काव्य माना।"।

हिन्दी में 'रीति' शब्द को विद्यापति के समय में काव्यरचना पद्धति के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा था। परवर्ती भक्तिकाल में रीति निरुपण के क्रम में लक्षणग्रन्थों को रीति निरूपक ग्रन्थ कहा जाने लगा, जो रीतिकाल तक काव्यरचना के लिए पूरी तरह रूढ़ हो चुका था और वह काव्य-रीति के रूप में व्यवहृत होने लगा। रीतिकाल के अनेक कवि रीति को इस अर्थ में स्वीकार करने लगे थे। अब 'रीति' शब्द, अपने सामान्य अर्थ और रीति संप्रदाय के काव्यशास्त्रीय अर्थ से अलग काव्यरचना-पद्धति के रूप में प्रख्यात हो गया था, जिसके पीछे संस्कृत काव्यशास्त्रीय संप्रदाय (रस, अलंकार, ध्वनि) की परंपरा में रचित अनेक काव्यशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों की प्रेरणा विद्यमान रही है। रीतिकालीन कवियों की काव्यरचना की यह 'रीति' पूर्ववर्ती रचनापद्धति से किंचित् परिवर्तन के साथ बहुत व्यापक एवं विकसित स्वरूप में स्थापित हो गई। कह सकते हैं, "रीतिकाव्य वह काव्य है, जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रखकर की गई हो। हिन्दी भाषा-साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में अनेक कवियों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के नियमों की बँधी-बँधाई परिपाटी पर अपने काव्य की रचना की। इसलिए उन्हें रीतिकवि और उनके काव्य को रीतिकाव्य संज्ञा से अभिहित किया जाता है।"।

3. रीतिकाल और रीतिकाव्य

हिन्दी में रीतिकाल की समयावधि मोटे तौर पर सं.1700 से 1900 वि. (सन् 1643 ई.-1843 ई.) मानी जाती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस कालावधि में रीति निरूपक ग्रन्थों की व्यापक उपलब्धता के कारण इसे रीतिकाल कहा और रचना की प्रकृति के आधार पर इस काल के कवियों की दो श्रेणियाँ निर्धारित की-1.रीतिग्रन्थकार 2.अन्य। उन्होंने उन सभी कवियों का रीतिग्रन्थकार कवि के रूप में मूल्यांकन किया, जिन्होंने किसी न किसी रूप में लक्षणग्रन्थों की रचना की थी या उनमें रीति निरूपक लक्षणग्रन्थ रचना की विशेषताएँ विद्यमान थीं। चूँकि, इस समय काव्यरचना का मूल स्वर शृंगारपरक

रचनाओं का था, इसलिए शुक्ल जी ने इस काल को 'शृंगारकाल' के रूप में भी कहे जाने का संकेत किया था। हालाँकि इस समय रीतिग्रन्थ एवं शृंगारी रचनाओं से अलग वीर, नीति और भक्ति विषयक विविध रचनाओं की परंपरा में प्रचुर सर्जन किया गया है, जिसमें भूषण, गोविन्दसिंह, सूदन द्वारा रचित वीरकाव्य, नबी, नूरमोहम्मद, निसार द्वारा रचित प्रेमाख्यानकाव्य, वृंद, घाघ, गिरिधर, दीनदयाल गिरि द्वारा रचित नीतिकाव्य, सुन्दरदास, चरनदास, गरीबदास, तुलसीसाहब, जगजीवनसाहब, यारीसाहब, दरियासाहब, गुलाबसाहब, सहजोबाई, दयाबाई, भीखा, पलटूदास सरीखे भक्त कवियों द्वारा रचित संत साहित्य, सबलसिंह का महाभारत, पद्माकर द्वारा रचित हिम्मत बहादुर विरुदावलि इत्यादि सम्मिलित हैं, पर मूल प्रवृत्ति रीति एवं शृंगार की होने के कारण शुक्ल जी ने रीतिकाल नाम को उपयुक्त माना। उन्होंने रीति निरुपण करने वाले कमोबेश सभी कवियों को एक ही वर्ग में रखा। रीतिकाल की समय सीमा में रचित 'रीतीतर' कवियों (घनानन्द, बोध, ठाकुर, आलम आदि) को उन्होंने अन्य कवि की श्रेणी में रखा।

'रीति' के स्वरूप पर चर्चा-परिचर्चा करते हुए विचारणीय यह है कि आचार्य शुक्ल एक और रीतिग्रन्थों की उपलब्धता के आधार पर उस काल का नामकरण रीतिकाल करते हैं, दूसरी ओर बार-बार रीतिग्रन्थों की अनुपयुक्तता और महत्त्वहीनता भी प्रतिपादित करते हैं, जिसे शुक्लजी के अंतर्विरोध के रूप में रेखांकित किया जा सकता है, "हिन्दी में लक्षणग्रन्थ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए हैं वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे।उनमें आचार्य के गुण नहीं थे।उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं।बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक-ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं-कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं।"।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रीतिकाल की सम्यक् प्रस्तावना तैयार कर उसकी आधारभूमि निर्मित करने वाले रीतिकाल के सर्वप्रमुख आचार्य कवि केशवदास की सर्वाधिक प्रखर आलोचना करते हैं, उन्हें काव्य रीतियों का उद्घाटनकर्ता तथा काव्यांग निरुपण करने वाला प्रथम कवि कहने के बावजूद, वे रीतिकाल के प्रवर्तन का श्रेय उन्हें नहीं 'चिन्तामणि' को देते हैं। केशवदास सहित रीतिकाल के कवियों के विषय में लिखते हुए शुक्ल जी कहते हैं-"केशवदास के वर्णन में यह दिखाया जा चुका है कि उन्होंने सारी सामग्री

कहाँ-कहाँ से ली। आगे होने वाले लक्षण ग्रन्थकार कवियों ने भी सारे लक्षण और भेद संस्कृत की पुस्तकों से लेकर लिखे हैं, जो कहीं-कहीं अपर्याप्त हैं। अपनी ओर से उन्होंने न तो अलंकार क्षेत्र में कुछ मौलिक विवेचन किया, न रस क्षेत्र में।" बावजूद इसके रीतिकालीन काव्यरचना का क्षेत्र बहुत व्यापक है, जिसमें कविताई का चरम कलात्मक रूप दृष्टिगत होता है। उसमें सब कुछ अमौलिक, परंपरागत और महत्त्वहीन नहीं कहा जा सकता। यहाँ भगीरथ मिश्र की टिप्पणी प्रासंगिक कही जाएगी–"अतः इस शुद्ध काव्यप्रणाली पर काव्यरचना की पद्धति डाली गई, जिसमें प्रत्येक प्रकार की रुचि रखने वाले को अपने मनोनुकूल काव्यरचना का अवसर मिला। इसलिए रीतिकाल में इस प्रणाली का स्वागत हुआ।" रीतिकालीन काव्यरचना की इन्हीं आलोचनाओं-प्रत्यालोचनाओं के साथ रीतिकाव्य का स्वरूप निर्मित होता है, जिसके प्रेरणा स्रोत के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र के रस, अलंकार, ध्वनि संप्रदाय-परंपरा में रचित कतिपय प्रमुख लक्षणग्रन्थों को स्वीकार किया जाता हैं।

4. रीतिकाव्य का स्वरूप

रीतिकाल में रीति निरूपक लक्षणग्रन्थों की रचना से रीतिकाव्य का जो व्यापक स्वरूप बनता है, उसमें संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न संप्रदायों की विवेचना के अंतर्गत रचित लक्षणग्रन्थों की विशिष्ट भूमिका है, जिसमें अलंकार संप्रदाय के चंद्रालोक (जयदेव), कुलयानन्द (अप्पय दीक्षित), काव्यप्रकाश (मम्मट), साहित्य दर्पण (आचार्य विश्वनाथ) के नाम उल्लेखनीय हैं। इस मूल प्रेरणास्रोत से प्रेरित, प्रभावित होकर या स्वतंत्र रूप से रीतिकाल से पूर्व या उसके आस-पास कतिपय महत्त्वपूर्ण काव्यांग विवेचक लक्षणग्रन्थ मौलिक या अनूदित रूप में रचे गए, रीतिकाव्य के निर्माण में जिनका कम योगदान नहीं है। ऐसी रचनाओं में कृपाराम की हित तरंगिणी, सूरदास की साहित्य लहरी, नन्ददास की रसमंजरी, तुलसीदास की बरवै रामायण एवं रामललानहछू, रहीम की बरवै नायिका-भेद आदि के नाम सम्मिलित हैं।

संस्कृत और हिन्दी की रीति निरूपक समस्त रचनाओं के समन्वित रूप को समग्रता में ग्रहण करते हुए व्यवस्थित रूप में काव्यांग विवेचना करने वाले ग्रन्थों की रचना कर केशवदास ने रीतिकाव्य रचना का मार्ग प्रशस्त किया, जहाँ उन्होंने रसिकप्रिया और कविप्रिया के रूप में रीतिकाव्य का पथ-प्रदर्शक

लक्षणग्रन्थ रच डाला। उसके पश्चात् रीतिकाल में रीतिकाव्य रचना का व्यापक मार्ग खुल गया, भले ही लक्षणग्रन्थ रचना की अविछिन्न परंपरा केशव से नहीं, चिन्तामणि' से क्यों न चली हो। रीतिकाव्य के स्वरूप पर विचार करने के क्रम में रीतिकाल में रचित रीति निरुपण करने वाले लक्षणग्रन्थों के व्यापक सर्जन को देखते हुए उसके क्रमबद्ध रूप का विवेचन अपेक्षित है।

रीतिकालीन रीतिग्रन्थों की रचना में संस्कृत के जिन काव्यशास्त्रीय संप्रदायों का योगदान स्वीकार किया जाता है, उनमें अलंकार, ध्वनि और रस संप्रदायों के नाम प्रमुख हैं। इस क्रम में सर्वाधिक व्यापक रस संप्रदाय है, जिसने रीतिकाव्य प्रणयन को व्यापक रूप से प्रेरित और प्रभावित किया। वैसे तो सबसे प्राचीन संप्रदाय, रस संप्रदाय है, जिसके कारण भरतमुनि, नंदिकेश्वर, अभिनवगुप्त आदि के प्रेरक विवेचन-विश्लेषण से इन्कार नहीं किया जा सकता, पर इस संप्रदाय के महत्त्वपूर्ण लक्षणग्रन्थ भानुदत्त के रसमंजरी एवं रसतरंगिणी का अविस्मरणीय योगदान स्वीकार किया जाता है। रीतिकाल में श्रृंगारपरक रचनाओं और रीति निरुपण के साथ नायिकाभेद आदि पर व्यापक सर्जन हुआ है।यहाँ तक कि शुक्लजी रीतिकाल में जिस रसविषयक विवेचन की अविरल परंपरा का आरंभ चिन्तामणि से स्वीकार करते हैं, उनकी रस विवेचना का आधार ग्रन्थ भानुदत्त की रसमंजरी ही है। रीति निरुपण की परंपरा में रचे गए लक्षणग्रन्थों को निम्नवत् क्रम में रखा जा सकता है–

अलंकार संप्रदाय से प्रेरित-प्रभावित रीतिकाव्य ग्रन्थों में प्रमुख रूप से कविप्रिया (केशवदास), भाषाभूषण, अलंकारदर्पण (रामसिंह), ललितललाम (मतिराम), शिवराजभूषण (भूषण), अलंकारगंगा (श्रीपति) अलंकारचंद्रोदय (जसवंतसिंह), (रसिक सुमति) अलंकारमाला (सुरतिमिश्र), अलंकार रत्नाकर (दलपतिराय वंशीधर), रसिक मोहन (रघुनाथ वंदीजन), कविकुलकंठाभरण (दूलह), अलंकार दर्पण (हरिनाथ), पद्माभरण (पद्माकर) आदि के नाम सम्मिलित हैं।

रससंप्रदाय से प्रेरित-प्रभावित लक्षणग्रन्थों में मुख्यतः रसिकप्रिया (केशव), रसराज (मतिराम), सुधानिधि (तोष), रसरहस्य (कुलपति मिश्र), रसार्णव (सुखदेव मिश्र), भावविलास (देव), रसविनोद (रामसिंह), रस रत्नावली (मंडन), रस सारांश (भिखारीदास), रसप्रबोध (रसलीन), रसतरंगिणी (शंभुनाथ मिश्र), नवरस तरंग (बेनी प्रवीन), रसिक विनोद (चंद्रशेखर वाजपेयी), रसिकानन्द (ग्वाल कवि) आदि के नाम सम्मिलित हैं।

नायिका-भेद विषयक लक्षणग्रन्थों में प्रमुखतया शृंगारमंजरी (चिन्तामणि), जातिविलास एवं रसविलास (देव), वधूविनोद (कालिदास), व्यंग्यार्थ चंद्रिका (गुलाब सिंह) उल्लेखनीय ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।

ध्वनि संप्रदाय से प्रेरित-प्रभावित संपूर्ण काव्यांग विवेचक रीतिकाव्य ग्रन्थों में कविकल्पतरु, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश (चिन्तामणि'), रसिक रसाल (कुमारिल भट्ट), काव्य निर्णय (भिखारीदास), काव्य सरोज (श्रीपति मिश्र), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ)साहित्यानन्द (ग्वाल कवि) प्रमुख हैं। वस्तुतः रीतिकाल में रीतिकाव्य का जो स्वरूप निर्मित होता है, उसमें उपर्युक्त लक्षणग्रन्थों के आधार पर उनको चार वर्गों में रखा जा सकता है-(क) संपूर्ण काव्यांग निरूपक लक्षणग्रन्थ (ख) अलंकार विषयक रीति निरूपक ग्रन्थ (ग) रस-विवेचक लक्षणग्रन्थ (घ) नायिका-भेद निरूपक लक्षणग्रन्थ। इन्हीं के आधार पर रीतिकाल में रीतिकाव्य का व्यापक स्वरूप निर्मित होता है और रीतिकाव्य निरुपण की परंपरा का बहुत विकास एवं विस्तार हो जाता है।

रीतिकाल की परिस्थितियाँ

रीतिकाल की कविता काव्यकला की कसौटी पर कसी हुई अभिव्यक्ति की कलात्मक प्रस्तुति है, जिसका कलापक्ष साहित्यिक कलात्मकता के चरम शिखर पर अवस्थित है। ऐसा शायद इसलिए कि पूर्ववर्ती भक्तिकाल में कविता का अनुभूतिपक्ष इतना प्रबल और उच्चकोटि का है कि रीतिकाल के कवियों को उस दिशा में अब और अधिक आगे बढ़ने की गुंजाइश नहीं बची थी। तब कविता के बाह्य कलेवर (अभिव्यक्तिपक्ष) को सजाने-सँवारने और निखारने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न था। इसलिए रीतिकाल की कविता में कलात्मक पक्ष बहुत मोहक और आकर्षक है, जिसमें शाब्दिक चमत्कार के विविधवर्णी चित्र आकृष्ट करते हैं। इसका कारण यह है कि तत्कालीन परिवेश में राजदरबार, जहाँ के विलासपूर्ण जीवन में कला, संगीत, शायरी से संपृक्त शृंगारपरक कलात्मक काव्याभिव्यक्ति का ही आधिपत्य था, कवियों से ऐसे ही काव्य सर्जन की अपेक्षा रखता था, जिसकी पूर्ति करते हुए कविगण तदानुरूप काव्यरचना में प्रवृत हो रहे थे। कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कविता उस काल की परिस्थितियों की स्वाभाविक उद्‌भूति है, "ऐसी परिस्थिति में काव्य अधिकाधिक शृंगार वर्णन की ओर झुकता गया। जिस प्रकार उस काल में चित्रकला,

वास्तुकला, संगीतकला की विभिन्न सूक्ष्म रीतियों और शैलियों के अनुसार सजावट की गई, उसी प्रकार काव्य के क्षेत्र में भी भाव और भाषा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सजावट और पच्चीकारी की गई।"।

साहित्य के क्षेत्र में इतना बड़ा परिवर्तन उस काल की विविध परिस्थितियों के कारण ही संभव है, क्योंकि किसी भी देश या समाज के किसी काल विशेष की परिस्थितियाँ उस काल में रचे जाने वाले साहित्य को न केवल प्रभावित करती हैं, वरन् उसका संचालन और नियंत्रण भी करती हैं। दूसरे शब्दों में, किसी देश अथवा समाज के साहित्य में उसका पूरा स्वरूप प्रतिबिंबित होता है। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय संबंध होता है। वे आपस में इस तरह संपृक्त होते हैं कि उनके आपसी संबंधों का गहन विवेचन-विश्लेषण उनके स्वरूप को स्पष्ट करने में पूरी तरह सहायक होता है। किसी साहित्य सर्जन के पीछे किन परिस्थितियों का योगदान है, उनका अध्ययन किए बिना साहित्य के स्वरूप को स्पष्ट किया जाना कदाचित् संभव नहीं। इस क्रम में रीतिकालीन साहित्य की विविध परिस्थितियों का सम्यक् विश्लेषण और विवेचन आवश्यक है। यहाँ रीतिकाल की उन्हीं विभिन्न प्रेरक परिस्थितियों का मूल्यांकन अपेक्षित है।

1. राजनीतिक अपकर्ष, संकुचित एवं संकीर्ण मनोवृत्ति का काल

किसी देश या समाज के कालविशेष की राजनीतिक परिस्थिति उस काल के साहित्य को किस सीमा तक प्रभावित करती है, रीतिकालीन साहित्य इसका सबसे प्रमुख और ज्वलंत उदाहरण है। रीतिकाल के (1643 ई. से 1843 ई.) कमोबेश दो सौ साल की समयावधि राजनीतिक दृष्टि से मुगलकाल के उत्कर्ष शासन के उत्तरोत्तर अपकर्ष और अवनति की ओर जाते हुए शासन की कहानी है। अकबर के शासनकाल (1555 ई. से 1605 ई.) में उसकी राजनीतिक कुशलता और उदार-दूरदर्शी दृष्टि ने मुगलशासन को जिस ऊँचाई पर प्रतिष्ठित किया था, जहाँगीर के शासनकाल (1605 ई. से 1627ई.) में ही उसकी मस्ती का आलमवाली प्रवृत्ति के कारण उसमें गिरावट आने लगी थी। उसके बाद शाहजहाँ के शासनकाल (1627 ई. से 1658 ई.) में, हालाँकि प्रशासनिक रूप से साम्राज्य विस्तार तथा कलात्मक उत्कर्ष का वैभव चरम शिखर पर (मयूर सिंहासन और ताजमहल जैसी नायाब कलाकृतियों

के निर्माण की दृष्टि से) दिखाई देता है, यहाँ तक कि कला और साहित्य, न्यायप्रियता, सामाजिक व्यवस्था आदि की दृष्टि से उसे मुगलकाल का स्वर्ण युग तक कहा जाता है, पर उसके शासन के उत्तरार्ध (जो रीतिकाल के आरंभ और विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, हालाँकि केशवदास उससे बहुत पहले रीतिकाल की सम्यक् प्रस्तावना तैयार कर चुके थे) तक उसकी अतिविलासी एवं घोर अपव्यय की उद्दाम प्रवृत्ति ने मुगलकाल की अवनति का रास्ता दिखला दिया। ऐसी परिस्थिति में रीतिकाल का साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आया, उसमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की अहम भूमिका है।हालाँकि रीतिकालीन साहित्य में उस काल के समाज की दारुण व्यथा और करुण कथा के जर्जर चित्र नहीं दिखाई देते हैं, पर राजसत्ता की शाही और सामंती प्रवृत्ति की जीती जागती तस्वीर उसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। रीतिकालीन काव्य में घोर शृंगारिकता एवं विलासिता अचानक या अकारण नहीं थी, बल्कि यह विशेषता उस काल की राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं तत्कालीन परिस्थितियों में विद्यमान थी।

शाहजहाँ के अंतिम दिनों तथा औरंगजेब के शासन और उसके बाद जब मुगलकाल के पतन का समय आ गया, तब भी शासन की विलासी प्रवृत्ति में कोई कमी नहीं आई। इसलिए उस काल का राजनीतिक परिदृश्य मुगलकाल के राजनीतिक पराभव की दारुण व्यथा की करुण कथा कहता है। मोहम्मदशाह रंगीला की विलासिता सर्वविदित है। नादिरशाह की लूटमार, अहमदशाह अब्दाली का कत्लेआम, अंग्रेजों की कुटिल नीति का फैलता जाल, इन सब से शाही विलासिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इस काल में संकुचित और संकीर्ण मनोवृत्ति केवल विलासिता तक सिमट गई थी। परिस्थिति-निर्पेक्षता उत्तर मुगल काल की सामान्य प्रवृत्ति बन गई थी। इसी राजनीतिक पराभव और अपकर्ष की अवधि में रीतिकालीन कविता की सर्जना हो रही थी, जिसमें उस काल की खूबियाँ और खराबियाँ दोनों विद्यमान हैं। इन सारी स्थितियों-परिस्थितियों की गहरी छाप रीतिकालीन काव्य सर्जन पर पूरी तरह पड़ी। उपर्युक्त राजनीतिक पृष्ठभूमि एवं परिस्थिति में जन्मी, पली और बढ़ी रीतिकालीन कविता में उस काल का सामंती और विलासी जीवन पूरी तरह परिलक्षित होता है, जिसमें शासक वर्ग की विलासिता और संकुचित-संकीर्ण मनोवृत्ति को संतुष्ट करने का उपक्रम दिखाई देता है-"वास्तव में रीतिकाव्य जितना तत्कालीन समाज के

क्लांत चित्त के विश्राम और विनोद की व्यवस्था करता है, उतना परिष्करण और नियोजन का नहीं।"।

वस्तुत: राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल का समय राजनीतिक पराभव और विलासिता तक सिमट जाने वाली संकुचित-संकीर्ण मनोवृत्ति का काल है, जिसके क्रोड़ में विकसित होने वाली रीतिकालीन कविता उस काल के सामंती और विलासी जीवन का जीता-जागता चित्र उपस्थित करती है।

2. सामाजिक अवनति एवं अतिविलासी प्रवृत्तियों के प्रभुत्व का काल

आदिकालीन संक्रांति काल की भीषण संघर्ष वेला से निकलकर भारतीय समाज ने भक्तिकालीन पुनरुत्थान की शांति वेला में प्रवेश किया था। भक्तिकाल केवल इतिहास का सामान्य काल नहीं था, वल्कि एक ऐसा अखिल भारतीय आंदोलन था, जिसने पूरे समाज को उद्वेलित एवं आंदोलित किया। एक लंबे संघर्ष और आंदोलन के पश्चात् समाज में शांति, समरसता और एकता का वातावरण निर्मित हुआ था। इस समन्वय के लिए भक्त कवियों, संतों, सूफियों और सहिष्णु शासकों ने बहुत व्यापक प्रयास किया था, जिसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली थी। अकबर के शासनकाल तक सामाजिक समरसता का जो तानाबाना, उसकी जैसी उदार दृष्टि और सभी धर्मों, वर्गों, संप्रदायों को समान रूप से मानने वाले के प्रयास के रूप में अविच्छिन्न बना रहा था, उसके बाद वह जर्जर अवस्था को प्राप्त होता गया, क्योंकि अकबर के बाद के शासकों का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत बहुत उदार और सहिष्णु नहीं रह सका। उनका संबंध सामान्यजन से दिनोंदिन कम होता गया और वे मात्रा विलासी जीवन जीने के अभ्यस्त हो गए। उनके इस शाही विलासिता का असर छोटे राजाओं-महाराजाओं, नवाबों, मनसबदारों, सामंतों पर भी स्वाभाविक रूप से पड़ा और उन्होंने भी उसी के अनुरूप अपनी जीवन शैली को ढाल लिया। उनके रहन-सहन, ठाटबाट को देखकर एक अलग दुनिया का आभास होता था, जो शेष समाज से कटा हुआ प्रतीत होता था।

मस्ती और विलास की मदिरा में डूबे शासकों के दरबार में शृंगारिक विलासिता का व्यापक परिवेश निर्मित हो गया।उसमें पनाह पाने वाले कवियों, शायरों, संगीतकारों, कलावंतों ने अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए जो सर्जन किया उसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ा। समाज में उनके विलासी

जीवन और शानो-शौकत का अनुकरण आम बात हो गई थी।सामंती व्यवस्था से ओत-प्रोत समाज को देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि यह शायद भारतीय समाज का हिस्सा ही नहीं है।एक ओर वैभव और विलासिता में डूबा समाज, दूसरी ओर आम आदमी की साधारण जिंदगी, जिसमें गरीबी और जलालत के सिवा और कुछ नहीं था। समाज में स्पष्ट रूप से वर्ग विभाजन दिखाई दे रहा था, जहाँ एक ओर विलासी शोषकवर्ग था, दूसरी और श्रमिक और गरीबों का शोषित वर्ग था। दोनों की सामाजिक स्थिति में पूरब-पश्चिम का अंतर था, "मुगलशासन के अंतिम दिनों में भारतीय समाज के ये ही दो आर्थिक वर्ग थे–राजा, सामंत, मनसबदार आदि भोक्ता वर्ग, कृषक और श्रमिकों का उत्पादक वर्ग। दोनों का परस्पर का संबंध क्रमशः क्षीण होता गया और मुगलकाल के अंतिम दिनों में इन दोनो की दुनिया लगभग अलग हो गई।"।

ऐसी सामाजिक अवनति के काल में रीतिकालीन कविता राजदरबार के विलासी जीवन की झाँकी तो, प्रस्तुत करती है, पर उसमें आम जनजीवन के साधारण चित्रों के दर्शन नहीं होते। ऊँच-नीच के आपसी भेदभाव वाले, धार्मिक आडंबरों और अंधविश्वासों में घिरे समाज की स्थिति उन्नत नहीं कही जा सकती। स्पष्टतः यह काल सामाजिक अवनति और अतिविलासी प्रवृत्तियों के प्रभुत्व-काल के रूप में स्मरण किया जाएगा।

3. सांस्कृतिक प्रभाव एवं धार्मिक पतन की पराकाष्ठा का काल

हिन्दी साहित्य के इतिहास के पूर्व मध्यकाल में सांस्कृतिक गौरव और उत्थान की जो उच्च परंपरा स्थापित हुई थी, उत्तर मध्यकाल में उसका स्वरूप पूरी तरह परिवर्तित हो गया और समाज में प्रसरित सांस्कृतिक प्रदूषण से उसमें अनेक प्रकार की विकृतियाँ व्याप्त हो गई। भक्तिकाल में भक्तकवियों एवं संतकवियों के प्रयास से सांस्कृतिक गौरव की जो झाँकी निर्मित हुई थी, रीतिकालीन परिवेश में पहुँचकर उसमें निरंतर ह्रास होता गया। संत कवियों और सूफी संतों के अकुंठ-निश्छल सामूहिक प्रयास से समाज में सौहार्द और सांस्कृतिक समरसता का परिवेश निर्मित हुआ था। संतों और सूफियों की वाणी से हिंदू-मुस्लिम के बीच जो आपसी मेल-मिलाप, भाईचारा और समन्वय का वातावरण निर्मित हुआ था, परवर्ती शासकों की अपेक्षाकृत अनुदार दृष्टि और असहिष्णुता के कारण वह कमजोर पड़कर तार-तार होता नजर आने लगा। वैभव और विलास के खुले प्रदर्शन ने सभ्यता और संस्कृति को अपनी चपेट में लेकर

सामाजिक अराजकता को बढ़ाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। परिणामत: समाज में धर्म के नाम पर अंधविश्वास, पाखंड और आडंबरों का बोलबाला हो गया। पूजापाठ के पवित्र स्थल भी विलासिता और घोर शृंगारिकता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। धार्मिक विघटन के परिवेश में राम और कृष्ण की भक्ति का स्वरूप भी परिवर्तित नजर आने लगा।धर्म प्रसार और प्रचार के केंद्र भी इस सांस्कृतिक पराभव के काल में विलास-सुख की ओर उन्मुख होने लगे।सांस्कृतिक प्रदूषण के इस दौर में संप्रदायों और मठों की आपसी प्रतिद्वंदिता चरम पर पहुँच गई। धार्मिकता के इस पतन से नैतिकता के लिए स्थान ही न रह गया। सांस्कृतिक पराभव और धार्मिक पतन की पराकाष्ठा के इस परिवेश में रीतिकाल में काव्यरचना करने वाले कवियों से किस प्रकार के सर्जन की उम्मीद की जा सकती है, इसका अनुमान सहजता से लगाया जा सकता है।

4. साहित्यिक दृष्टि से नैतिकता रहित, नवीन और कलात्मक उत्कर्ष का काल

रीतिकाल में सर्जित साहित्य का जो स्वरूप दिखाई देता है, वह एकबारगी अचानक इस रूप में नहीं आया, वरन् उसके स्वरूप निर्माण में उसकी साहित्यिक पृष्ठभूमि तथा उस काल की प्रेरक साहित्यिक परिस्थितियों का योगदान है, जिसने इसके लिए उर्वरक का काम किया। हालाँकि इस काल का साहित्य सर्जन कलात्मक उत्कर्ष और नवीन साहित्यिक मानदंडों की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट और चमत्कारपूर्ण है, पर अपने पूर्ववर्ती भक्तिकालीन उदात्त रचनात्मक भावभूमि पर स्थित काव्य सर्जन से वह कमतर और नैतिकतारहित है। रीतिकाल में काव्यरचना और कला की असाधारण उन्नति के बावजूद इस काल में रचा जाने वाला साहित्य भक्तिकाल की तुलना में सामाजिकता से कटा हुआ प्रतीत होता है। जहाँ भक्तिकाल का साहित्य एक व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण लेकर लोककल्याण और जनोन्मुखी भावना से प्रेरित और अनुप्राणित था, रीतिकाल का साहित्य एक वर्गविशेष की शृंगारी एवं विलासी भावनाओं की तुष्टि का माध्यम बन रहा था।

पूर्व मध्यकाल में सूर, जायसी, तुलसी जैसे कवियों ने साहित्य सर्जन के माध्यम से उदात्त भावना से परिपूर्ण पवित्र और निश्छल प्रेम की जो आधारभूमि निर्मित की थी, उत्तर मध्यकाल में वह पवित्र भावना लुप्तप्राय हो गई। तुलसी और सूर का पवित्र निश्छल प्रेम अकबर के राजकीय अवगुण एवं जहाँगीर की

मस्ती के आलम में कहीं खो गया। रीतिकाल के साहित्यिक परिवेश की पृष्ठभूमि उसी समय बनने लगी थी, जब अकबर के समय में ही केशवदास जैसा भक्तकवि सुंदरियों द्वारा बाबा कहे जाने पर अपने 'श्वेत केशों के लिए अफसोस प्रकट कर रहा था। शृंगार और विलास प्रेमी जहाँगीर जिस समय शासनव्यवस्था से बेखब्बर कश्मीर की राजकीय यात्राएँ कर रहा था, बलभद्र मिश्र जैसा कवि नायिका-रूपसौंदर्य से आकृष्ट होकर 'नखशिख' जैसी रचनाएँ प्रस्तुत कर रहा था। उसी परंपरा में उत्तरमुगलकाल में कलाप्रेमी शाहजहाँ, जहाँ मुमताजमहल की स्मृति में ताजमहल का निर्माण करवा रहा था, वही बिहारी सरीखे कवि अतिशय शृंगारिकता का मांसल राग अलाप रहे थे।साहित्य, संगीत, कला से विमुख औरंगजेब जिस समय भावुक होकर औरंगाबाद में बैठा हुआ था, कमोबेश उसी समय देव जैसा कवि विलासितापूर्ण कामुक शृंगारिक वर्णनों में व्यस्त था। कहने का भाव यह है कि उस समय राजसत्ता और साहित्य दोनों में विलासिता और शृंगारिकता का ही परिवेश छाया हुआ था।ऐसी परिस्थिति में यह आश्चर्य नहीं कि जहाँ शासन शालीमारबाग, निशातबाग, मयूरसिंहासन, ताजमहल, औरंगाबाद आदि के निर्माण में तल्लीन था, वहीं साहित्य में रसिकप्रिया (केशवदास), नखशिख, रस विलास (बलभद्र मिश्र), अलक शतक, तिल शतक (मुबारक), अंग दर्पण (रसलीन) आदि शृंगारिक रचनाओं की सृष्टि हो रही थी।

रीतिकाल का कमोबेश सारा रचनात्मक सर्जन राजाश्रय की छत्रछाया में हुआ है, इस कारण से इस काल की काव्य सर्जना उन्हीं आश्रयदाताओं की रुचि-अभिरुचि से परिचालित-संचालित हो, ऐसा अनिवार्य-सा हो गया था। कवि और कविता दोनों के लिए राज दरबार में ही सम्मानजनक स्थान मिल सकता था, इसलिए कविगण अपनी पूरी क्षमता और प्रतिभा से ऐसी सजावटी, बनावटी और चमत्कार पैदा करने वाली काव्यरचना में प्रवृत रहते थे, जिससे उन्हें राजदरबार में पद-प्रतिष्ठा के साथ ही अर्थलाभ भी हो।

पूर्ववर्ती उदात्त काव्यरचना, जो कभी स्वांतः सुखाय, परजन हिताय के साथ कवि को यशः प्रार्थी बनाने का उपक्रम करती थी, रीतिकाल में वही कविता कवि की जीविका का साधन और प्रदर्शनपरक लोकप्रियता का माध्यम बनकर रह गई। कविता को सजावट और बनावट की वस्तु की तरह कलात्मक साँचे में ढालना इस काल के कविकर्म का अनिवार्य अंग हो गया, जिसमें कलात्मक चारुत्व और किसी सीमा तक नूतनता का आग्रह तो है,

पर उसमें उदात्त भावनायुक्त नैतिकता का अभाव है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रतिभाशाली कवि की संपूर्ण काव्य प्रतिभा काव्य कलेवर को अलंकृत करने में ही लगी रही। इसलिए कविता का बाह्य कलेवर तो आश्चर्यजनक ढंग से कलात्मक ऊँचाइयों पर स्थापित हो गया पर, काव्यसर्जन के स्वछंद-उन्मुक्त प्रवाह में अनुभूतिगत मौलिक चेतना का जो प्रवाह हो सकता था, वह बहुत कुछ दब-सा गया। इसे उस काल की साहित्यिक परस्थिति की स्वाभाविक परिणति कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में रचित कतिपय जिन लक्षणग्रन्थों की प्रेरणा से रीतिकाल में रीति निरुपण करने वाले लक्षणग्रन्थों की व्यापक रचना हुई।उस काल में यह रीति निरुपण का विस्तार ही था कि हर तरह की काव्यरचना को काव्यरीति या रीतिकाव्य कहा जाने लगा था। उसी क्रम में अलंकार-रीति, रस-रीति आदि रूप भी प्रचलित हो गए। काव्य-रीति का स्वरूप इतना व्यापक था कि काव्य के सभी अंगों को आधार बनाकर काव्य रचनाएँ की गईं। उससे इतर अन्य शृंगारपरक रचनाओं में भी काव्य-रीति का पूरा-पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है। यही कारण है कि शृंगार का कोई पक्ष कवियों से नहीं छूटा। लक्षणग्रन्थ रचना के साथ शृंगारपरक काव्यरचना का आश्चर्यजनक विस्तार इस काल में दिखाई देता है।

रीतिकालीन काव्यरचना का जो स्वरूप इस काल में निर्मित हुआ, उसके पीछे इस काल की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विशिष्ट योगदान है। इन विभिन्न परिस्थितियों से प्रेरित-प्रभावित साहित्यरचना में उस काल की कलाप्रियता के साथ विलासिता का भी प्रतिबिंब दिखाई देता है। स्वाभाविक रूप से उस काल की काव्यरचना में कलात्मक उत्कर्ष के साथ नवीनता का भी संचार है, पर अतिविलासपूर्ण शृंगारिक भावना के कारण वह कविता सीमित और संकुचित मनोवत्ति का पोषण करती है। उसमें उदात्त भावना और नैतिक दृष्टि के साथ जीवन का समग्र विस्तार और उन्नत रूप नहीं दिखाई देता। रीतिकाल की काव्यरचना तत्कालीन सामंती परिवेश की अपेक्षाओं पर खरा उतरने का प्रयास करती हुई प्रतीत होती है, जो तत्कालीन विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव में अपना स्वरूप निर्मित करती है। ऐसी परिस्थिति में सर्जित साहित्य का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद

द्विवेदी ने ठीक ही कहा है दृ"रीतिकाल का काव्य यद्यपि शृंगारप्रधान है, पर इस शृंगाररस की साधना में जीवन की संतुलित दृष्टि का अभाव है–यह वास्तविक जीवन की कठोरताओं पर आधारित नहीं।इसका आधारफलक (कैनवस) सीमित, संकुचित और सँकरा है। जीवन के मूल प्रश्घ्नों से उसका संबंध थोड़ा है। जीवन की वास्तविक जटिलताओं के साथ सामना करने के लिए जिस प्रकार का वैयक्तिक साहस और सामाजिक मंगल का मनोभाव आवश्यक है, वह इसमें नहीं है, और न शृंगारभावना को जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य घोषित करने का साहस ही है।"।

7

बिहारी

जीवन परिचय

महाकवि बिहारीलाल का जन्म 1603 के लगभग ग्वालियर में हुआ। वे जाति के माथुर चौबे थे। उनके पिता का नाम केशवराय था। उनका बचपन बुंदेल खंड में कटा और युवावस्था ससुराल मथुरा में व्यतीत हुई, जैसे की निम्न दोहे से प्रकट है–

जनम ग्वालियर जानिये खंड बुंदेले बाल।
तरुनाई आई सुघर मथुरा बसि ससुराल॥

जयपुर-नरेश मिर्जा राजा जयसिंह अपनी नयी रानी के प्रेम में इतने डूबे रहते थे कि वे महल से बाहर भी नहीं निकलते थे और राज-काज की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। मंत्री आदि लोग इससे बड़े चिंतित थे, किंतु राजा से कुछ कहने की शक्ति किसी में न थी। बिहारी ने यह कार्य अपने ऊपर लिया। उन्होंने निम्नलिखित दोहा किसी प्रकार राजा के पास पहुंचाया–

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सा बिंध्यों, आगे कौन हवाल॥

इस दोहे ने राजा पर मंत्र जैसा कार्य किया। वे रानी के प्रेम-पाश से मुक्त होकर पुनः अपना राज-काज संभालने लगे। वे बिहारी की काव्य कुशलता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने बिहारी से और भी दोहे रचने के लिए कहा और

प्रति दोहे पर एक अशर्फी देने का वचन दिया। बिहारी जयपुर नरेश के दरबार में रहकर काव्य-रचना करने लगे, वहां उन्हें पर्याप्त धन और यश मिला। 1664 में उनकी मृत्यु हो गई।

कृतियाँ

बिहारी की एकमात्रा रचना सतसई है। यह मुक्तक काव्य है। इसमें 719 दोहे संकलित हैं। बिहारी कृत सतसई श्रृंगार रस की अत्यंत प्रसिद्ध और अनूठी कृति है। इसका एक-एक दोहा हिंदी साहित्य का एक-एक अनमोल रत्न माना जाता है।

काव्यगत विशेषताएँ

वर्ण्य विषय

बिहारी की कविता का मुख्य विषय श्रृंगार है। उन्होंने श्रृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का वर्णन किया है। संयोग पक्ष में बिहारी ने हाव-भाव और अनुभवों का बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण किया हैं। उसमें बड़ी मार्मिकता है। संयोग का एक उदाहरण देखिए–

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सोह करे, भौंहनु हंसे दैन कहे, नटि जाय॥

बिहारी का वियोग, वर्णन बड़ा अतिशयोक्ति पूर्ण है। यही कारण है कि उसमें स्वाभाविकता नहीं है, विरह में व्याकुल नायिका की दुर्बलता का चित्रण करते हुए उसे घड़ी के पेंडुलम जैसा बना दिया गया है–इति आवत चली जात उत, चली, छेसातक हाथ।

चढी हिंडोरे सी रहे, लगी उसासनु साथ॥

सूफी कवियों की अहात्मक पद्धति का भी बिहारी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। वियोग की आग से नायिका का शरीर इतना गर्म है कि उस पर डाला गया गुलाब जल बीच में ही सूख जाता है–

औंधाई सीसी सुलखि, बिरह विथा विलसात।
बीचहिं सूखि गुलाब गो, छीटों छुयो न गात॥

भक्ति-भावना

बिहारी मूलत:शृंगारी कवि हैं। उनकी भक्ति-भावना राधा-कृष्ण के प्रति है और वह जहां-तहां ही प्रकट हुई है। सतसई के आरंभ में मंगला-चरण का यह दोहा राधा के प्रति उनके भक्ति-भाव का ही परिचायक है–

मेरी भव बाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाई परे, स्याम हरित दुति होय।

बिहारी ने नीति और ज्ञान के भी दोहे लिखे हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। धन-संग्रह के संबंध में एक दोहा देखिए–

मति न नीति गलीत यह, जो धन धरिये जोर।
खाये खर्चे जो बचे तो जोरिये करोर॥

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-चित्रण में बिहारी किसी से पीछे नहीं रहे हैं। षट ऋतुओं का उन्होंने बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। ग्रीष्म ऋतु का चित्र देखिए–कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ। जगत तपोतन से कियो, दरिघ दाघ निदाघ।।

बहुज्ञता

बिहारी को ज्योतिष, वैद्यक, गणित, विज्ञान आदि विविध विषयों का बड़ा ज्ञान था, अत: उन्होंने अपने दोहों में उसका खूब उपयोग किया है। गणित संबंधी तथ्य से परिपूर्ण यह दोहा देखिए–

कहत सबै वेदीं दिये आंगु दस गुनो होतु।
तिय लिलार बेंदी दियैं अगिनतु बढत उदोतु॥

भाषा

बिहारी की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है। इसमें सूर की चलती ब्रज भाषा का विकसित रूप मिलता है। पूर्वी हिंदी, बुंदेलखंडी, उर्दू, फारस आदि के शब्द भी उसमें आए हैं, किंतु वे लटकते नहीं हैं। बिहारी का शब्द चयन बड़ा सुंदर और सार्थक है। शब्दों का प्रयोग भावों के अनुकूल ही हुआ है और उनमें एक भी शब्द भारती का प्रतीत नहीं होता। बिहारी ने अपनी भाषा में कहीं-कहीं मुहावरों का भी सुंदर प्रयोग किया है। जैसे–

मूड चढाऐऊ रहै फरयौ पीठि कच-भारु।
रहै गिरैं परि, राखिबौ तऊ हियैं पर हारु॥

शैली

विषय के अनुसार बिहारी की शैली तीन प्रकार की है–

1. माधुर्य पूर्ण व्यंजना प्रधानशैली-शृंगार के दोहों में।
2. प्रसादगुण से युक्त सरस शैली-भक्ति तथा नीति के दोहों में।
3. चमत्कार पूर्ण शैली-दर्शन, ज्योतिष, गणित आदि विषयक दोहों में।

रस

यद्यपि बिहारी के काव्य में शांत, हास्य, करुण आदि रसों के भी उदाहरण मिल जाते हैं, किंतु मुख्य रस शृंगार ही है।

छंद

बिहारी ने केवल दो ही छंद अपनाए हैं। दोहा और सोरठा। दोहा छंद की प्रधानता है। बिहारी के दोहे समास-शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं। दोहे जैसे छोटे छंद में कई-कई भाव भर देना बिहारी जैसे कवि का ही काम था।

अलंकार

अलंकारों की कारीगरी दिखाने में बिहारी बड़े पटु हैं। उनके प्रत्येक दोहे में कोई न कोई अलंकार अवश्य आ गया है। किसी-किसी दोहे में तो एक साथ कई-कई अलंकारों को स्थान मिला है। अतिशयोक्ति, अन्योक्ति और सांगरूपक बिहारी के विशेष प्रिय अलंकार हैं अन्योक्ति अलंकार का एक उदाहरण देखिए–

स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा दैख विहंग विचार।
बाज पराये पानि पर तू पच्छीनु न मारि॥

साहित्य में स्थान

किसी कवि का यश उसके द्वारा रचित ग्रंथों के परिमाण पर नहीं, गुण पर निर्भर होता है। बिहारी के साथ भी यही बात है। अकेले सतसई ग्रंथ ने उन्हें हिंदी साहित्य में अमर कर दिया। शृंगार रस के ग्रंथों में बिहारी सतसई के समान ख्याति किसी को नहीं मिली। इस ग्रंथ की अनेक टीकाएं हुई और अनेक कवियों

ने इसके दोहों को आधार बना कर कवित्त, छप्पय, सवैया आदि छंदों की रचना की। बिहारी सतसई आज भी रसिक जनों का काव्य-हार बनी हुई है।

कल्पना की समाहार शक्ति और भाषा की समास शक्ति के कारण सतसई के दोहे गागर में सागर भरे जाने की उक्ति चरितार्थ करते हैं। उनके विषय में ठीक ही कहा गया है–

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं, घाव करैं गंभीर।।

अपने काव्य गुणों के कारण ही बिहारी महाकाव्य की रचना न करने पर भी महाकवियों की श्रेणी में गिने जाते हैं। उनके संबंध में स्वर्गीय राधाकृष्णदास जी की यह संपत्ति बड़ी सार्थक है-यदि सूर सूर हैं, तुलसी शशी और उडगन केशवदास हैं तो बिहारी उस पीयूष वर्षी मेघ के समान हैं जिसके उदय होते ही सबका प्रकाश आछन्न हो जाता है।

रीति काल के कवियों में बिहारी प्राय: सर्वोपरि माने जाते हैं। बिहारी सतसई उनकी प्रमुख रचना हैं। इसमें 713 दोहे हैं। किसी ने इन दोहों के बारे में कहा है:

सतसइया के दोहरा ज्यों नावक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर।।

(नावक (फारसी) = एक तरह का धनुष जिससे छोटे पैने तीर चलाये जाते थे, दोहरा = दोहा)

बिहारी शाहजहाँ के समकालीन थे और राजा जयसिंह के राजकवि थे। राजा जयसिंह अपने विवाह के बाद अपनी नव-वधू के प्रेम में राज्य की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं दे रहे थे तब बिहारी ने उन्हें यह दोहा सुनाया था:

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली में ही बिन्ध्यो आगे कौन हवाल।।

(श्लेष अलंकार: अली = राजा, भौंराय कली = रानी, पुष्प की कली)

कहते हैं कि बात राजा की समझ में आ गई और उन्होंने फिर से राज्य पर ध्यान देना शुरू कर दिया। जयसिंह शाहजहाँ के अधीन राजा थे। एक बार शाहजहाँ ने बलख पर हमला किया, जो सफल नहीं रहा और शाही सेना को वहाँ से निकालना मुश्किल हो गया। कहते हैं कि जयसिंह ने अपनी चतुराई से सेना को वहाँ से कुशलपूर्वक निकाला। बिहारी ने लिखा है:

घर घर तुरकिनि हिन्दुनी देतिं असीस सराहि।
पतिनु राति चादर चुरी तैं राखो जयसाहि॥

(चुरी = चूड़ी, राति = रक्षा करके, जयसाहि = राजा जयसिंह)

बिहारी और अन्य रीतिकालीन कवियों ने भक्ति की कवितायें लिखी हैं, किन्तु वे भक्ति से कम काव्य की चातुरी से अधिक प्रेरित हैं। किसी रीतिकालीन कवि ने लिखा है: आगे के सुकवि रीझिहैं चतुराई देखि, राधिका कन्हाई सुमिरन को तो इक बहानो है। बिहारी का एक दोहा है:

मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥

(काछनी = धोती की काँछ, यहि बानिक = इसी तरह)

सतसई का प्रथम दोहा है–

मेरी भववाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तन की झाँई परे स्याम हरित दुति होय॥

(झाँई = छाया, स्याम = श्याम, दुति = द्युति = प्रकाश)

राधा जी के पीले शरीर की छाया नीले कृष्ण पर पड़ने से वे हरे लगने लगते हैं। दूसरा अर्थ है कि राधा की छाया पड़ने से कृष्ण हरित (प्रसन्न) हो उठते हैं। श्लेष अलंकार का सुन्दर उदाहरण है।

बिहारी का एक बड़ा प्रसिद्ध दोहा है–

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न स्नेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के बीर॥

अर्थात् यह जोड़ी चिरजीवी हो। इनमें क्यों न गहरा प्रेम हो, एक वृषभानु की पुत्री हैं, दूसरे बलराम के भाई हैं। दूसरा अर्थ है– एक वृषभ (बैल) की अनुजा (बहन) हैं और दूसरे हलधर (बैल) के भाई हैं। यहाँ श्लेष अलंकार है।

बिहारी शहर के कवि हैं। ग्रामीणों की अरसिकता की हँसी उड़ाते हैं। जब गंधी (इत्र बेचने वाला) गाँव में इत्र बेचने जाता है तो सुनिये क्या होता है:

करि फुलेल को आचमन मीठो कहत सराहि।
रे गंधी मतिमंद तू इतर दिखावत काँहि॥

(फुलेल = इत्र, सराहि = सराहना करके, इतर = इत्र, काँहि = किसको)

कर लै सूँघि, सराहि कै सबै रहे धरि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गँवई गाहक कौन॥

(गँवई = छोटा गाँव, गाहक = ग्राहक)

इसी तरह जब गाँव में गुलाब खिलता है तो क्या होता है:

वे न इहाँ नागर भले जिन आदर तौं आब।
फूल्यो अनफूल्यो भलो गँवई गाँव गुलाब॥

(नागर = नागरिक, आब = इज्जत)

नायिका के वर्णन में बिहारी कभी-कभी अतिशयोक्ति का उपयोग करते हैं–

काजर दै नहिं ऐ री सुहागिन, आँगुरि तो री कटैगी गँड़ासा

यानि कि: ये सुहागन काजल न लगा, कहीं तेरी उँगली तेरी गँड़ासे जैसी आँख की कोर से कट न जाये। गँड़ासे से जानवरों का चारा काटा जाता है।

और सुनिये:–

सुनी पथिक मुँह माह निसि लुवैं चलैं वहि ग्राम।
बिनु पूँछे, बिनु ही कहे, जरति बिचारी बाम॥

यानि कि विरहिणी नायिका की श्वास से माघ के महीने में भी उस गाँव में लू चलती है। विरहिणी क्या हुई, लोहार की धौंकनी हो गई!

विरहिणी अपनी सखी से कहती है:–

मैं ही बौरी विरह बस, कै बौरो सब गाँव।
कहा जानि ये कहत हैं, ससिहिं सीतकर नाँव॥

यानि कि मैं ही पागल हूँ या सारा गाँव पागल है। ये कैसे कहते हैं कि चन्द्रमा का नाम शीतकर (शीतल करने वाला) है? तुलना करिये तुलसीदास जी की चौपाई से। अशोक वन में सीता जी कहती हैं– पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानुँहि मोहि जानि बिरहागी। अर्थात्: मुझको विरहिणी जानकर अग्निमय चन्द्रमा भी अग्नि की वर्षा नहीं करता।

कुछ दोहे नीति पर भी हैं, जैसे:

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल बल जल ऊँचो चढ़ै, तऊ नीच को नीच॥

अर्थात् कोई कितना भी प्रयत्न करे किन्तु मनुष्य के स्वभाव में अन्तर नहीं पड़ता। नल के बल से पानी ऊपर तो चढ़ जाता है, किन्तु फिर भी अपने स्वभाव के अनुसार नीचे ही बहता है।

इस लेख को बिहारी के दो दोहों के साथ समाप्त करता हूँ जिनमें वे भगवान को उलाहना दे रहे हैं–

नीकी लागि अनाकनी, फीकी परी गोहारि,
तज्यो मनो तारन बिरद, बारक बारनि तारि।

अर्थात्–हे भगवान लगता है आब आपको आनाकानी अच्छी लगने लगी है और हमारी पुकार फीकी हो गई है। लगता है कि एक बार हाथी को तार कर तारने का यश छोड़ ही दिया है।

कब को टेरत दीन वै, होत न स्याम सहाय।
तुम हूँ लागी जगत गुरु, जगनायक जग बाय॥

अर्थात्: हे श्याम, मैं कब से दीन होकर तुम्हें पुकार रहा हूँ किन्तु आप मेरी सहायता नहीं कर रहे हैं। हे जग-गुरु, जगनायक क्या आपको भी इस संसार की हवा लग गई है?

मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोय।
जा तनु की झाँई परे, स्याम हरित दुति होय॥
अधर धरत हरि के परत, ओंठ, दीठ, पट जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्र धनुष दुति होति॥
या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जलु होइ॥
पत्र ही तिथी पाइये, वा घर के चहुँ पास।
नित प्रति पून्यौ ही रहे, आनन-ओप उजास॥
कहति नटति रीझति मिलति खिलति लजि जात।
भरे भौन में होत है, नैनन ही सों बात॥
नाहिंन ये पावक प्रबल, लूऐं चलति चहुँ पास।
मानों बिरह बसंत के, ग्रीषम लेत उसांस॥
इन दुखिया अँखियान कौं, सुख सिरजोई नाहिं।
देखत बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं॥
सोनजुही सी जगमगी, अँग-अँग जोवनु जोति।
सुरँग कुसुंभी चूनरी, दुरँगु देहदुति होति॥
बामा भामा कामिनी, कहि बोले प्रानेस।
प्यारी कहत लजात नहीं, पावस चलत बिदेस॥
गोरे मुख पै तिल बन्यो, ताहि करौं परनाम।
मानो चंद बिछाइकै, पौढ़े सालीग्राम॥

मैं समुझ्यो निराधार, यह जग काचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखिए तहाँ।।
इत आवति चलि जाति उत, चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिडोरैं सी रहै, लगी उसाँसनु साथ।।
भूषन भार सँभारिहै, क्यौं इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धर परैं, सोभा ही कैं भार।।

❐❐❐